भाकपा (माले) लिबरेशन : एक संशोधनवादी संगठन की विकास यात्रा

आज हमारे क्रान्तिकारी आन्दोलन में दक्षिणपंथी भटकाव का खतरा बहुत ज्यादा मौजूद है। वैसे तो "वामपंथी" दुस्साहसवाद की भी कुछ प्रवृत्तियां मौजूद हैं, परन्तु मुख्य खतरा दक्षिणपंथी भटकाव से है।

आपातकाल के बाद जो कई सारे ग्रुप क्रान्तिकारी संगठनों के बतौर पुनर्गठित हुये थे, उसमें से कई दक्षिणपंथी भटकाव के शिकार हुए और कुछ तो सीधे-सीधे संशोधनवाद के दलदल में जा फंसे। आज ये क्रान्तिकारी आन्दोलन से बाहर चुके हैं तथा बुर्जुआ संसदीय राजनीति में गले तक डूब कर उसी में तरह-तरह के समीकरण बैठाने में व्यस्त हैं।

भाकपा (माले) लिबरेशन इस तरह के संगठनों में से एक है तथा यह उनका प्रातिनिधिक उदाहरण भी है। यह इस बात का प्रातिनिधिक उदाहरण है कि कैसे कोई संगठन प्रारंभ मे कुछ अवसरवाद करता है, फिर यह अवसरवाद गहराता है और अंततः कैसे यह पूर्ण संशोधनवाद में रूपान्तरित हो जाता है। यह इस बात का भी प्रातिनिधिक उदाहरण है कि कैसे कोई संगठन "वामपंथी" दुस्साहसवाद करते हुए अंततः कलाबाजी खाकर संशोधनवाद करने लगता है। "वामपंथी" दुस्साहसवाद कैसे सीधे संशोधनवाद में रूपान्तरित हो जाता है।

"वामपंथी" दुस्साहसवाद करने वाले संगठन के विचारधारात्मक अवसरवाद का तथा इसके संशोधनवाद में रूपान्तरण के पूरे इतिहास का अवलोकन करने से यह बात शिद्दत से उभर कर आती है कि कैसे विचारधारात्मक सवालों पर कोई भी ढिलाई तथा गैर क्रांतिकारी आचरण अंततः पूरे संगठन को ले डूबता है। कैसे तब संगठन को बचाने की एन-केन कोशिशें उसे और भी पतन की ओर ले जाती हैं।

लिबरेशन के इस इतिहास का सबक आज हरेक क्रांतिकारी संगठन के लिए महत्वपूर्ण है। आज जब चारों ओर से, पूंजीवाद-साम्राज्यवाद का आक्रमण हो रहा है, बहुत सारे ढुलमुल मार्क्सवादी बुद्धिजीवी शत्रु की ओर चले गये हैं तथा कई सारे ढुलमुल संगठन संशोधनवाद में पतित हो गये हैं तथा कुछ की यात्रा जारी है, ऐसे में दक्षिणपंथी भटकाव और संशोधनवाद का खतरा कोई काल्पनिक खतरा नहीं है। यह वास्तविक है। इसके प्रति कोई भी लापरवाही घातक होगी। साथ ही यह भी कि विचारधारात्मक सवालों पर जरा सी भी ढील, जरा सा भी ढुलमुलपन जड़ उखाड़ने के लिए शुरूआत बन सकता है।

लिबरेशन का यह विश्लेषण, इस खतरे के प्रति आगाह करने तथा विचारधारा के सवालों पर और दृढ़तापूर्वक खड़ा होने में कुछ मददगार साबित होगा, इसी उम्मीद के साथ हम इसे यहां प्रस्तुत कर रहे हैं।

• • • • •

भाकपा (माले) लिबरेशन एक ऐसा संगठन है, जो वर्षों तक 1970 की CPI (ML) की अवस्थितियों को एकमात्र सही अवस्थिति मानता था तथा उसमें किसी भी प्रकार के परिवर्तन को गैर-क्रान्तिकारी परिवर्तन कहता था, भले ही वे परिवर्तन रणनीति और रणकौशल के सवालों में ही हों। लेकिन 1985 में सोवियत संघ में गोर्बाचोव के सत्तासीन होने के बाद अपनी विचारधारात्मक अवस्थितियों में इस संगठन ने तेजी से परिवर्तन किया और महज 2-3 वर्षों में यह सीधे-सीधे संशोधनवादी अवस्थितियों तक जा पहुंचा। ऊपरी तौर पर देखने पर यह परिवर्तन अत्यन्त तीव्र लगता था, अचानक पीछे मुड़कर चलने जैसा। लेकिन ऐसा था नहीं। बल्कि इस संगठन की प्रकृति में ही यह नहीं था कि वह खुलेआम पुरानी अवस्थिति को छोड़कर नई अवस्थिति को ग्रहण करे और पुरानी अवस्थिति के लिए अपनी आत्म-आलोचना करे। 1975 से 1985 के बीच रणनीति और रणकौशल के कई मामलों में इसने पुरानी अवस्थिति पर अड़े रहने की कसम खाते हुए परिवर्तन किए थे—यानि चुपके-चुपके। विचारधारा के क्षेत्र में भी यही हाल था। इसने काफी लम्बे समय से विचारधारा के कई महत्वपूर्ण पहलुओं पर, पुरानी अवस्थिति पर दृढ़तापूर्वक टिके रहने की कसम खाते हुए, अवसरवाद का परिचय दिया था। दिसंबर 1982 की तीसरी पार्टी कांग्रेस में तो इसका यह अवसरवाद बहुत खुल कर सामने आ गया। इस तरह 1985-88 की इसकी यात्रा कोई अचानक शुरू हुई यात्रा नहीं बल्कि पहले की अवसरवादी यात्रा की तार्किक परिणति थी—जिसको ढेरों भीतरी-बाहरी कारकों ने गति प्रदान की।

आगे के पृष्ठों में हम लिबरेशन की इसी विकास यात्रा और फिर 1988 के बाद उसके हश्र पर विस्तार से चर्चा करेंगे। अपनी बात को स्थापित करने के लिये हम केवल लिबरेशन की पार्टी कांग्रेसों में पास किए गये दस्तावेजों का सहारा लेंगे क्योंकि पार्टी पत्रिका के लेखों या किसी अन्य प्रस्ताव के मुकाबले किसी पार्टी के वे ज्यादा विश्वस्त (authentic) दस्तावेज होते हैं। इसके लिये तीसरी पार्टी कांग्रेस (26-30 दिसंबर' 1982), चौथी पार्टी कांग्रेस (1-5 जनवरी' 1988), पांचवी पार्टी कांग्रेस (20-26 दिसंबर '1992) तथा छठीं पार्टी कांग्रेस (20-25 अक्टूबर' 1997) की राजनीतिक सांगठनिक रिपोर्ट, पार्टी कार्यक्रम, पार्टी संविधान, कार्यनीतिक प्रस्ताव, कृषि संबंधित नीति तथा अन्य दस्तावेजों को इस्तेमाल किया गया है।

अपनी बात को हम सबसे पहले विचारधारात्मक सवालों पर केन्द्रित करेंगे, उसके बाद सांगठनिक सवालों तथा कार्यनीति के मुद्दों पर और सबसे अंत में कार्यक्रम के सवाल पर। इस वरीयता क्रम का यह मतलब नहीं है कि हम कार्यक्रम के सवाल को कार्यनीति या सांगठनिक सवाल से कम महत्वपूर्ण सवाल समझते हैं। लिबरेशन के संबंध में इसका सीधा सा मतलब यह है कि चूंकि यह संशोधनवादी संगठन है, अतः वे सभी मसले जो विचारधारा से जुड़ते हैं, उन पर पहले चर्चा की जानी चाहिए। कार्यनीति या संगठन से संबंधित जिन बातों की हम चर्चा करेंगे वे सीधे विचारधारा से जुड़ जाते हैं, इसीलिए उन पर विचारधारात्मक सवालों के बाद ही चर्चा कर लेना समीचीन होगा।

विचारधारात्मक लाइन : अवसरवाद से संशोधनवाद तक की यात्रा

विचारधारा के क्षेत्र में लिबरेशन के क्रमशः अवसरवादी से संशोधनवादी में तब्दील

होने तथा उसके बाद के विकास को स्पष्ट करने के लिए हम आठ महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर चर्चा करेंगे। ये आठों बिन्दु आज मार्क्सवादी विचारधारा के अहम पहलू हैं। उनमें किसी भी तरह का ढुलमुलपन, अवसरवाद या विच्युति केवल और केवल संशोधनवाद की ओर ही ले जाएगी। ये बिन्दु हैं :

1. खुश्चेव के सत्तासीन होने के बाद से सोवियत संघ का चरित्र
2. महान बहस, महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति
3. डेंगकालीन और उसके बाद के चीन का चरित्र : इसमें स्वयं डेंग और चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के चरित्र का मूल्यांकन भी शामिल है
4. शांतिपूर्ण संक्रमण
5. अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के केन्द्र का प्रश्न
6. तीन दुनिया का सिद्धान्त
7. कम्युनिस्ट या संशोधनवादी पार्टियों के प्रति रुख का प्रश्न
8. समाजवादी समाज में बहु पार्टी व्यवस्था का प्रश्न

इन सभी प्रश्नों पर लिबरेशन की अवस्थितियों की जांच-परख के लिए हम क्रमशः एक-एक कांग्रेस के दस्तावेजों का परीक्षण करेंगे तथा देखेंगे कि समग्रता में लिबरेशन कैसे संशोधनवाद के दलदल में उतरता और फिर गहरे डूबता है।

तीसरी पार्टी कांग्रेस

तीसरी पार्टी कांग्रेस के समय लिबरेशन अभी क्रांतिकारी है लेकिन इसके अवसरवाद को काफी दिन बीत चुके होते हैं तथा इसका अवसरवाद कई बिन्दुओं पर काफी गहरा हो चुका होता है। इस कांग्रेस के समय यह साफ दिखाई देता है कि इसने यदि तुरन्त अपने कदम नहीं खींचे तो इसका संशोधनवाद के गड्ढे में गिरना निश्चित है।

जहां तक सोवियत संघ का सवाल है, यह अभी उस पुरानी अवस्थिति पर खड़ा है जिसे चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने 1963-64 के दौर में प्रतिपादित किया था तथा जिसे 1970 की CPI (ML) समेत दुनिया के सारे मार्क्सवादी-लेनिनवादी सही अवस्थिति मानते रहे हैं। यह अवस्थिति संक्षेप में यह है कि खुश्चेवी संशोधनवाद के सोवियत पार्टी में हावी हो जाने के साथ सोवियत संघ में पूंजीवाद की पुनर्स्थापना हो गई थी तथा 1968 में चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण के साथ यह सामाजिक साम्राज्यवाद में तब्दील हो गया था। सोवियत समाज समाजवादी समाज नहीं रह गया था तथा सोवियत संघ जो कर रहा था वह शब्दों में समाजवाद तथा व्यवहार में साम्राज्यवाद था। तीसरी पार्टी कांग्रेस का दस्तावेज कहता है :

> "मौजूदा स्थिति में जबकि सोवियत संघ अफगानिस्तान और पोलिश संकट में फंसा हुआ है तथा नया आक्रमण छेड़ने के लिए बस इंतजार ही कर सकता है....सोवियत संघ के खिलाफ आक्रमण की मुख्य दिशा अभी भी बरकरार रखते हुए क्रान्तिकारी जनता को अमेरिका के खिलाफ अपनी सतर्कता जरूर बढ़ा देनी चाहिए।"
>
> (तीसरे अखिल भारतीय कांग्रेस के दस्तावेज, पृ. 3.28)

> "वियतनाम असल में सोवियत संघ का नव-उपनिवेश व सैनिक आधार बन कर रह गया है..."

> "संशोधनवादी नौकरशाही के खिलाफ और समाजवादी जनवाद के लिए पोलैण्ड के मजदूरों के संघर्ष ने सोवियत खेमे के अधःपतित समाजवाद के खिलाफ संघर्ष को एक नया आयाम दिया है...पोलैण्ड की जनता सैनिक तानाशाही को धता बताते हुए नये रूपों में संघर्ष जारी रखे हुए है।"
>
> (वही, पृष्ठ 3.30)

> "समग्र तौर पर, मौजूदा परिस्थिति में दो अति महाशक्तियां—अमेरिका और सोवियत संघ—शांति के लिए सबसे बड़ा खतरा पैदा करती हैं।...दो में से अभी तत्काल सोवियत संघ कोई अगला अभियान छेड़ने के लिए घटनाओं के किसी नये मोड़ की प्रतीक्षा कर रहा है... हमें सोवियत संघ के खिलाफ अपनी चौकसी बरकरार रखनी चाहिए..."
>
> (वही, पृष्ठ 3.30-3.31)

> "जनवरी' 81 तक आते-आते अमेरिका और यूरोपीय साझा बाजार को पीछे छोड़कर सोवियत संघ भारतीय मालों का सबसे बड़ा खरीददार बन गया। रुपये की तुलना में रूबल के मूल्य में वृद्धि के जरिए, भारत को सैनिक साजो सामान का सबसे बड़ा आपूर्तिकर्ता बन जाने, भारत के बड़े व्यापारिक घरानों के साथ संबंध विकसित करने और सार्वजनिक क्षेत्र में नियंत्रक शिखर पर रहने के जरिए सोवियत संघ ने भारत का शोषण तेज कर दिया है।"
>
> (वही, पृष्ठ 3.49)

> "चार पहाड़ों—साम्राज्यवाद, सामाजिक साम्राज्यवाद, दलाल नौकरशाह पूंजीवाद और सामंतवाद—ने भारतीय जनता के विरुद्ध एक संश्रय कायम कर लिया है।"
>
> "अतः भारतीय क्रान्ति का केन्द्रीय कार्यभार है कृषि क्रान्ति को मुख्य कड़ी के रूप में लेकर साम्राज्यवाद, सामाजिक साम्राज्यवाद, दलाल-नौकरशाह पूंजीवाद और सामंतवाद के इस संश्रय को उखाड़ फेंकना।"
>
> (वही, पृष्ठ 5.18)

इस वर्णन से स्पष्ट है कि इस समय लिबरेशन सोवियत संघ के चरित्र के मामले में पुरानी अवस्थिति पर खड़ा है तथा इससे संबंधित सभी सूत्रीकरणों को मानता है तथा उन्हें अपनी कार्यवाहियों का अंग बनाता है।

लेकिन यही बात महान बहस और सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के बारे में सच नहीं है। यह महान बहस के बारे में कोई सवाल नहीं खड़े करता है, लेकिन सांस्कृतिक क्रान्ति के बारे में इसकी राय पूर्णतः अवसरवादी है। डेंग गुट के चीनी पार्टी में हावी हो जाने के साथ ही चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति को नकार दिया तथा बाद में इसे "महान विपदा" घोषित कर दिया। सांस्कृतिक क्रान्ति के इस निषेध का लिबरेशन कोई विरोध नहीं करता और उसे चीनी पार्टी का अंदरूनी मामला घोषित कर साफ अवस्थिति लेने से बचने की कोशिश करता है।

> "हाल के वर्षों में चीन की कम्युनिस्ट पार्टी विराट राजनीतिक परिवर्तनों से गुजरी है और **राजनीति और पद्धति दोनों लिहाज से सांस्कृतिक क्रान्ति की निंदा करने के निष्कर्ष पर पहुंची है।** राजनीतिक रूप से इसलिए कि सांस्कृतिक क्रान्ति इस आधार पर शुरू की गई थी कि सर्वहारा तथा बुर्जुआ, जिसका प्रतिनिधित्व पार्टी के अन्दर पूंजीवादी रास्ता अपनाने वाले लोग करते हैं, के बीच का अंतर्विरोध, प्रधान अंतर्विरोध था, न कि विकसित समाज व्यवस्था और पिछड़ी हुई उत्पादक शक्तियों के बीच का अंतर्विरोध। और पद्धति के लिहाज से इसलिए कि सांस्कृतिक क्रान्ति में पूंजीवादी रास्ता अपनाने वालों पर प्रहार करने के लिए बड़े पैमाने के जन आंदोलनों का रास्ता अपनाया गया था, न कि पार्टी ढांचे व

समाजवादी कानूनी ढांचे के अंतर्गत समस्या को हल करने का रास्ता। बहरहाल, वे अब भी वर्ग संघर्षों के खत्म हो जाने के सिद्धान्त का विरोध करना जारी रखे हुए हैं।"

(वही, पृष्ठ 3.32)

"जैसा कि अध्यक्ष माओ ने परिभाषित किया था, सांस्कृतिक क्रान्ति सर्वहारा अधिनायकत्व के अंतर्गत क्रान्ति का जारी रूप है। हमारी क्रान्ति पर इसका जो भी सकारात्मक और नकारात्मक प्रभाव पड़ा, अपने संदर्भ में हम उसकी जांच करने का पूरा अधिकार रखते हैं। उदाहरण के लिए, नव-संशोधनवाद के खिलाफ हमारे संघर्ष में इसमें आवेग प्रदान किया और इसे निश्चय ही स्वीकार किया जाना चाहिए।"

(वही, पृष्ठ 3.33)

"बहरहाल, जहां तक चीन का मामला है, सांस्कृतिक क्रान्ति का उनके देश पर क्या प्रभाव पड़ा और वे उसे जारी रखेंगे या नहीं, यह सिर्फ चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ही तय कर सकती है। हम शुरू से ही इस उसूली स्थिति पर कायम रहे हैं। बाहरी तौर पर देखने से इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि लिन प्याओ की घटना और चार के गिरोह के अभ्युदय के साथ आर्थिक और राजनीतिक-दोनों क्षेत्रों में सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान कई अतिवाम गलतियां की गईं। इसके परिणामस्वरूप, यहां तक कि अध्यक्ष माओ को भी सांस्कृतिक क्रान्ति के बारे में यह टिप्पणी करनी पड़ी थी कि सांस्कृतिक क्रान्ति दो मामलों में गलत निकली—पहला, बड़े पैमाने पर वरिष्ठ कार्यकर्त्ताओं की बर्खास्तगी के मामले में और दूसरा, गृह युद्ध भड़काने के मामले में। अध्यक्ष माओ ने ही रातों-रात शक्तिशाली बन बैठे चार नेताओं को चार के गिरोह के रूप में चिन्हित किया था और अपने जीवन के अंतिम दिनों में उन्होंने बहुत से गलत मामलों को सुधारने के लिए कई कदम उठाये थे।... **हम इसलिए गलतियों को सुधारने और चीन जैसे पिछड़े देश में समाजवाद का निर्माण करने की समस्या का समाधान करने में यथार्थवादी रवैया अपनाने की चीनी कामरेडों की आम दिशा का समर्थन करते हैं।"**

(वही, पृष्ठ 3.33-3.34)

"हमारी पार्टी ने हमेशा ही दूसरे देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों के साथ स्वतंत्रता, अहस्तक्षेप और पारस्परिक सहायता और सहयोग के आधार पर बिरादराना संबंध कायम करने का पक्षपोषण किया है। इन आधारों पर ही कुछ कम्युनिस्ट पार्टियों के साथ हमारे संबंध विकसित हो रहे हैं और **इसी आधार पर हमने भारत में कई अन्य पैटी बुर्जुआ ग्रुपों के विपरीत CPC के अन्दरुनी विकासों पर कोई टिप्पणी करने से परहेज किया है।"**

(वही, पृष्ठ-33, सभी जगह जोर हमारा)

यह बहुत ही घटिया स्तर का अवसरवाद है। इसके कई पहलू हैं :

(क) महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति माओ विचारधारा का सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू है। वह इसका सारतत्व है। इसलिए जो कोई भी माओ विचारधारा के मानने की बात कहता है, वह मूलतः सांस्कृतिक क्रांति की अवधारणा को मानने की बात करता है। ऐसे में जो भी पार्टी सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति की निंदा करती है, उसका निषेध करती है, उसे इस कारण नहीं बख्शा जा सकता कि यह उसका अंदरुनी मामला है। "हम उस पर टिप्पणी करने से परहेज करेंगे", जो भी यह कहता है, वह वास्तव में विचारधारा से गद्दारी कर रही पार्टियों के खिलाफ साफ अवस्थिति ग्रहण करने से बचना चाहता है।

(ख) यह बात कि "हमने CPC के अंदरुनी विकासों पर टिप्पणी करने से परहेज किया है", झूठी है क्योंकि ठीक दो पैराग्राफ बाद वे यह कहते हैं कि "हम गलतियों को

सुधारने.....में चीनी कामरेडों की आम दिशा का समर्थन करते हैं।" यानि ऐसा नहीं है कि आप टिप्पणी करने से परहेज कर रहे हैं। टिप्पणी में समर्थन और विरोध, कोई भी हो सकता है। आप विरोध की टिप्पणी करने से बचते हैं जबकि समर्थन की टिप्पणी फौरन कर देते हैं। यहां यह गौरतलब है कि जिन गलतियों को सुधारने में समर्थन की बात की गई है, वे सभी सांस्कृतिक क्रांति से संबंधित हैं। यानि साफ है कि आप सांस्कृतिक क्रांति की निंदा करने वालों का विरोध नहीं करेंगे, लेकिन सांस्कृतिक क्रांति की "गलतियों" को सुधारने वालों का समर्थन करेंगे। क्या आपकी पक्षधरता स्पष्ट नहीं है? क्या यह प्रकारान्तर से सांस्कृतिक क्रांति के निषेध का समर्थन नहीं है? क्या यह 'लाल झंडा लहराते हुए लाल झंडे का विरोध नहीं है'?

(ग) सांस्कृतिक क्रांति पर यह नकारात्मक अवस्थिति और भी महत्वपूर्ण हो जाती है, जब हम यह ध्यान रखें कि चौथी और पांचवी कांग्रेस के दस्तावेजों में सांस्कृतिक क्रांति का जिक्र तक नहीं है, जबकि छठीं पार्टी कांग्रेस में इसका जिक्र केवल इसकी विफलता को रेखांकित करने के लिए किया गया है। क्या इसके बाद भी किसी को यह कहने का साहस हो सकता है कि लिबरेशन सांस्कृतिक क्रांति को अपहोल्ड करता है?

(घ) "सांस्कृतिक क्रांति का उनके देश पर क्या प्रभाव पड़ा.....यह सिर्फ चीनी पार्टी ही तय कर सकती है।" विचारधारा के मामले में यह अवस्थिति पूर्णतः गलत है। वे सारी बातें जो विचारधारा के क्षेत्र में आती हैं, उन पर सारी दुनिया के कम्युनिस्टों और कम्युनिस्ट पार्टियों को विचार-विमर्श करने और किसी निश्चित राय पर पहुँचने का हक है। यही नहीं, यह उनका कर्त्तव्य है। जो ऐसा नहीं करता, वह अपने कम्युनिस्ट कर्तव्यों का निर्वाह नहीं करता और जो लोग या पार्टियां विचारधारा के क्षेत्र में गड़बड़ी फैला रहे हैं, उनकी मदद करता है। यह सरासर गैर क्रांतिकारी, गैर कम्युनिस्ट और अवसरवादी व्यवहार है। इस दृष्टिकोण की तीखी भर्त्सना की जानी चाहिए क्योंकि विचारधारा के क्षेत्र में कुंहासा फैलाने का यह सबसे कारगर तरीका है।

(च) यह बात नहीं है कि लिबरेशन दुनिया की अन्य सभी कम्युनिस्ट पार्टियों पर टिप्पणी करने से परहेज करता है। जैसा कि हम आगे देखेंगे, वह ढेरों देशी-विदेशी पार्टियों की तीखी अलोचना और भर्त्सना करता है। "परहेज करने" का यह "उसूल" लिबरेशन केवल CPC के बारे में अपनाता है क्योंकि वह CPC द्वारा सांस्कृतिक क्रांति के निषेध पर साफ-साफ अवस्थिति ग्रहण करने से बचना चाहता है। यह दो मुंहापन और दुहरा आचरण है। ऐसा आचरण क्रांतिकारियों की शोभा नहीं देता और यह उन्हें संशोधनवाद के दलदल में धकेल कर दम लेता है।

उपरोक्त से स्पष्ट है कि सांस्कृतिक क्रांति के मामले में लिबरेशन ने डेंग गुट के उदय काल से ही घोर अवसरवादी नीति अपनाई और यह उसे चौथी कांग्रेस आते आते सांस्कृतिक क्रांति की शिक्षाओं का सीधे-सीधे निषेध करने तक ले गयी। उसने चौथी कांग्रेस में इनके खिलाफ अवस्थिति ले ली।

सांस्कृतिक क्रांति और उसकी शिक्षाओं से सीधा जुड़ा हुआ मसला चीन और चीनी समाज का है—1976 के बाद। 1976 में माओ की मृत्यु के बाद डेंग गुट ने चीनी

कम्युनिस्ट पार्टी पर कब्जा कर लिया, माओ समर्थकों को मरवा डाला (1976-78 के बीच 12000 लोग), सांस्कृतिक क्रांति को "महान विपदा" घोषित कर दिया, 1956 के बाद के माओ का निषेध कर दिया तथा विभिन्न प्रकार की नीतियां अपना कर चीन में पूंजीवाद की पुनर्स्थापना कर दी। माओ के मरने के बाद शुरुआती तीन-चार साल के धुंध-विभ्रम के बाद सभी मार्क्सवादी-लेनिनवादी कतारों ने यही सही अवस्थिति अपना ली। लेकिन लिबरेशन ने इससे विपरीत रुख अपनाया। उसने डेंगपंथी गुट को संशोधनवादी कहने से इंकार किया, वह चीन को समाजवादी मानता रहा तथा उनकी पूंजीवादी पुनर्स्थापना की नीतियों को "व्यावहारिक", "यथार्थवादी" समाजवादी नीतियां घोषित कर उनका समर्थन करता रहा।

> "अपनी अर्थव्यवस्था में पुनर्संयोजनों के जरिए चीन ने कृषि और औद्योगिक दोनों मोर्चों पर प्रभावशाली आर्थिक अग्रगतियां हासिल की हैं। **समाजवादी जनवाद के क्षेत्र में इसके द्वारा किये गये प्रयोगों ने देश के राजनीतिक जीवन को सामान्य बनाने में भी मदद पहुंचाई है।**"
>
> (वही, पृष्ठ 3.31, जोर हमारा)
>
> "हाल के वर्षों में चार आधुनिकीकरण के अभियान को आगे बढ़ाने के लिए उन्होंने विदेशों के प्रति मुक्त द्वार की नीति अपनाई है और घरेलू पैमाने पर कई लचीली नीतियां अख्तियार की हैं।"
>
> (वही, पृष्ठ 3.32)
>
> "जो भी हो, हाल के समय में चीन की कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा चीन में भ्रष्टाचार, नौकरशाही, तस्करी, सट्टेबाजी और बुर्जुआ संस्कृति के प्रसार की रिपोर्टें रखी गई है और **निश्चय ही ये चीजें, पूंजीवादी देशों के प्रति मुक्त द्वार नीति और अंदरुनी पैमाने पर अपनाई गई लचीली नीतियों की उपज हैं।** इस ढंग की घटनाओं के लिए 'चार के गिरोह की बची-खुची शक्तियों' को जिम्मेवार नहीं ठहराया जा सकता है। यह काफी उत्साहप्रद बात है कि चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ऐसी समस्याओं के प्रति जागरूक है और इन कार्यवाहियों के लिए जिम्मेवार लोगों को 'नये शोषकों' के रूप में चिन्हित करने के लिए कदम उठा रही है और जोर दे रही है कि 'वर्ग-संघर्ष अभी भी मौजूद है', 'शांतिपूर्ण विकास' के खतरे की ओर इंगित कर रही है और पार्टी नेतृत्व व विचारधारात्मक शिक्षा को सुदृढ़ करने के लिए कदम उठा रही है। फिर भी, यही धारणा बनती है कि एक शक्तिशाली विचारधारात्मक आंदोलन की अभी भी कमी है और सांस्कृतिक क्रांति के अलावा किसी दूसरे रूप का अभाव है। इस तलाश की प्रक्रिया में चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की हाल ही में सम्पन्न बारहवीं कांग्रेस ने पार्टी संगठन के शुद्धिकरण और सुदृढ़ीकरण का एक त्रिवर्षीय कार्यक्रम पेश किया है, जिसकी परिणति एक शुद्धि अभियान में होगी; इसके अलावा कांग्रेस ने समाजवादी भौतिक आधार के निर्माण के साथ-साथ समाजवादी बौद्धिक सभ्यता के निर्माण पर भी जोर दिया है। **हमें आशा है कि चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में चीनी जनता पूरे जोश-खरोश के साथ इन समस्याओं से निकल आयेगी और समाजवादी व्यवस्था के प्रति विश्व की जनता के उत्साह को बल प्रदान करेगी, जो कि विभिन्न किस्म के विकासों के कारण कुछ हद तक दब गई है। भारतीय जनता समाजवादी चीन के प्रति दिल में अपार प्रेम संजोए हुए है और उसने अपनी क्रांति में चीनी क्रांति से हमेशा प्रेरणा ग्रहण की है।**"
>
> (वही, पृष्ठ 3.34-3.35, जोर हमारा)

जहां तक चीन की कम्युनिस्ट पार्टी का प्रश्न है, उसके भारतीय संशोधनवादी–

CPI (M)–से संबंध कायम कर लेने पर लिबरेशन की टिप्पणी इस प्रकार है:

> "इन सारे विकासों के साथ-साथ भारत में सी. पी. आई (एम) समेत कुछ संशोधनवादी पार्टियों के साथ उनके विविधता पूर्ण संबंधों ने समूची दुनिया में मार्क्सवादी-लेनिनवादी कतारों में व्यापक पैमाने पर विवादों और उलझन को जन्म दिया है।"
>
> (वही, पृष्ठ 3.33)
>
> "सी .पी. एम. के साथ चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के संबंधों में कोई भी सामान्यीकरण भारतीय क्रांति के लिए निश्चित रूप से नुकसानदेह होगा, क्योंकि **सी. पी. एम. हमारी परिस्थितियों से सी. पी. आई. की नीतियों को लागू करने में अधिक सक्षम व पूर्त है,** तब भी हमें पूरा विश्वास है कि हम सी. पी. एम. नव-संशोधनवादियों का पर्दाफाश करने और उन्हें अलगाव में डालने के जरिये अपनी खुद की शक्ति पर निर्भर रहकर ऐसी किसी भी संभावना पर जीत हासिल करेंगे।"
>
> (वही, पृष्ठ 3.35, जोर हमारा)

ये उद्धरण अपने-आप ही अपनी कहानी कहते हैं। खुलेआम पूंजीवाद की पुनर्स्थापना होते देखकर भी लिबरेशन इसे मानने को तैयार नहीं है और हठपूर्वक चीन को समाजवादी मानते हुए उसका समर्थन करता है। प्रत्यक्षतः और परोक्षतः वह सांस्कृतिक क्रांति का निषेध करता है। यहां यह दृष्टव्य है कि वह डेंग गुट का नाम तक नहीं लेता और अमूर्त ढंग से चीन की पार्टी की बात करता रहता है। सांस्कृतिक क्रांति के मुख्य निशाने के तौर पर डेंग स्याओ पिंग की छवि उस समय सभी के दिमाग में ताजा थी। ऐसे में उसे खुलेआम क्रांतिकारी घोषित करने की कोई भी हिमाकत नहीं कर सकता था। इसीलिए उसका नाम लिए बगैर उसकी नीतियों का समर्थन किया गया है। यह उस अवसरवाद के सिवा और क्या है, जो संशोधनवाद के अत्यंत निकट है।

यही बात चीनी पार्टी के सी. पी. एम. से संबंधों पर इसकी टिप्पणी में निहित है। लिबरेशन सी.पी. एम. को सीधे-सीधे संशोधनवादी कहता है। चीनी पार्टी इसी संशोधनवादी पार्टी के साथ पार्टी संबंध बनाती है। इससे स्पष्ट है कि या तो चीनी पार्टी खुद संशोधनवाद कर रही है (और यही बात सच है) या फिर वह हद दर्जे का अवसरवाद कर रही है। दोनों ही मायनों में उसके इस कृत्य की भर्त्सना की जानी चाहिए। लेकिन लिबरेशन "अंदरूनी मामलों में परहेज" करने का नारा बुलंद कर कन्नी काट जाता है और कहता है कि वह सी. पी. एम. संशोधनवादियों से अकेले ही मोर्चा लेगा। कितना "क्रांतिकारी" व्यवहार है लिबरेशन का। आपकी प्रिय "क्रांतिकारी" पार्टी एक संशोधनवादी पार्टी से संबंध बना लेती है और आप उसका विरोध करने के बदले अपने ही दम पर टक्कर लेने की बात करके संतोष कर लेते हैं। तो भला अवसरवाद और क्या होगा?

जहां तक शांतिपूर्ण संक्रमण का सवाल है, लिबरेशन इस समय तक हथियारबन्द क्रांति की ही बात करता है। बल्कि इस मायने में वह प्रत्यक्षतः/परोक्षतः सफाये की लाइन को ही जायज ठहराता है।

> "बिहार के देहातों में जो कुछ भी बन रहा है वह एकमात्र तीव्रतम वर्ग-संघर्षों के जरिए, आग और तलवार के जरिए।"
>
> (वही, पृष्ठ 3.57)
>
> "हमें एक सेकेण्ड के लिए भी हरगिज नहीं भूलना चाहिए कि क्रांतिकारी आंदोलनों का

राष्ट्रव्यापी ऊँचा ज्वार और क्रांति की अंतिम विजय अंततः निर्णायक रूप से सशस्त्र संघर्ष पर, जन मुक्ति सेना और आधार क्षेत्रों के निर्माण पर निर्भर है। और हमारा मौजूदा संयुक्त मोर्चा कार्य अंतिम विश्लेषण में जन मुक्ति सेना व आधार क्षेत्रों के निर्माण की ओर निर्देशित है।"

(वही, पृष्ठ 3.66)

क्रांतिकारी खेमे की एकता की शर्त के रूप में लिबरेशन कहता है–

"सशस्त्र संघर्ष के जरिए इलाके के आधार पर सत्तादखल की कार्यनीति को स्वीकार करना।"

(वही, पृष्ठ-3.87)

अंत में **कार्यक्रम** "भारतीय क्रांति का रास्ता" शीर्षक के तहत कहता है :

"20. हमारा अनुभव इस बात की पुष्टि करता है कि भारतीय क्रांति एक दीर्घकालीन क्रांति ही हो सकती है। भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में आर्थिक व राजनीतिक विकासों में भौजूद असमानता के कारण, हमारी क्रांति का बुनियादी रास्ता छापामार युद्ध के रूप में दीर्घकालीन सशस्त्र संघर्ष का रास्ता है। यह निहायत जरूरी है कि ग्रामीण क्षेत्रों में केन्द्र किया जाय और प्रतिरोध-संघर्षों के क्षेत्र विकसित किये जायं तथा शहरों में एक लम्बे अरसे तक शक्ति संचित की जाय और और विद्रोह के लिए एक माकूल वक्त का इंतजार किया जाय। भारत के देहाती इलाकों के कुछ भागों में लाल सेना और आधार क्षेत्रों का विकास राष्ट्रव्यापी क्रांतिकारी उभार व युद्ध का विकास करने के लिए निर्णायक परिस्थितियां पैदा करेगा।

"21. छापामार युद्ध हमारी क्रांति में युद्ध का मुख्य रूप है।.....

"23. इसलिए, सर्वहारा की पार्टी को स्थानीय लोकप्रिय विद्रोह और सैनिकों के विद्रोह को विकसित करने की तथा नियमित सेना व आधार-क्षेत्रों का निर्माण करने के मकसद से उन विद्रोहों को किसानों के सशस्त्र संघर्षों के साथ जोड़ने की संभावनाओं का पता लगाना चाहिए।"

(वही, पृष्ठ 5.20-5.21)

इस पूरे दस्तावेज में कहीं भी "शांतिपूर्ण संक्रमण" की चर्चा नहीं की गई है। इसे ध्यान देने योग्य विषय भी नहीं समझा गया है। फिर भी हम देखेंगे कि पांचवीं कांग्रेस का काल आते-आते लिबरेशन एक लम्बा सफर तय कर चुका होगा और इसका "क्रांति का रास्ता" बदलकर पूर्णतया संसदीय और शांतिपूर्ण हो चुका होगा।

अब हम एक अन्य महत्वपूर्ण सवाल पर आते हैं। यह है अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर कम्युनिस्ट आंदोलन को संगठित करने के लिए एक केन्द्र का सवाल। लिबरेशन की अवस्थिति इस मामले में साफ है। वह तीसरी कांग्रेस से ही ऐसे किसी केन्द्र की जरूरत से इंकार करता है। बल्कि वह इसे हानिकारक भी मानता है :

"सर्वप्रथम, कम्युनिस्ट पार्टियों के विकास और अपनी राष्ट्रीय विलक्षणताओं को समझने में उन पार्टियों के परिपक्व होने के साथ यह महसूस किया गया **कि एक मार्गदर्शक केन्द्र के रूप में इंटरनेशनल जैसे किसी संगठन की जरूरत नहीं है क्योंकि व्यवहार ने प्रमाणित किया है कि ऐसे संगठन कम्युनिस्ट पार्टियों के विकास में बाधक के बतौर काम करते हैं।** और इसके अलावा, ट्राटस्की का खण्डन करने के बाद और भी मजबूत संकल्प के साथ तथा सोवियत संघ में समाजवाद के विकास के साथ, जो यह प्रमाणित करता है कि एक देश में समाजवाद का निर्माण किया जा सकता है, तीसरे इंटरनेशनल को भंग करने का निर्णय लिया गया। मार्क्सवाद-लेनिनवाद का आम बंधन, साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्ष में आम लाइन की स्वीकृति और पारस्परिक सहायता व समर्थन–ये ही पर्याप्त समझे गये।"

(वही, पृष्ठ 3.35, जोर हमारा)

ये सारी बातें सर्वहारा अंतर्राष्ट्रीयतावाद का उल्लंघन हैं। ये बातें 1943 में तीसरे इंटरनेशनल को भंग किये जाने के कारणों को उसूल के स्तर पर पहुंचा देती हैं और भविष्य में किसी भी अंतर्राष्ट्रीय केन्द्र के निर्माण की जरूरत से इंकार कर देती हैं। यही नहीं वे इन्हें पार्टियों के विकास में बाधा के बतौर चिन्हित करती हैं। इसके साथ ही तीसरे इंटरनेशनल को भंग करने के बारे में निर्णय को ट्राटस्कीवाद के खण्डन तथा एक देश में समाजवादी निर्माण के सवाल के साथ जोड़ना निहायत गलत है। यह केवल संकीर्ण राष्ट्रवाद को ही जन्म दे सकता है। इस संबंध में 'महान बहस' में चीन की कम्युनिस्ट पार्टी (माओ के नेतृत्व वाली) की अवस्थिति निम्नलिखित है :

"अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन के इतिहास के एक दौर में कम्युनिस्ट इंटरनेशनल ने दुनिया की कम्युनिस्ट पार्टियों को केन्द्रीकृत नेतृत्व दिया। इसने अनेक देशों में कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना और विकास को प्रोत्साहित करने में महान ऐतिहासिक भूमिका अदा की। लेकिन जब कम्युनिस्ट पार्टियां परिपक्व हो गईं और अंतर्राष्ट्रीय आंदोलन की स्थिति और जटिल हो गई तब कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के लिए केन्द्रीकृत नेतृत्व देना न तो व्यावहारिक रहा और न ही आवश्यक। 1943 में कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की कार्यकारी समिति के अध्यक्ष मण्डल ने कौमिन्टर्न को भंग करने के लिए लाए गये एक प्रस्ताव में कहा :

'.....जिस हद तक अलग-अलग देशों की अंदरूनी एवं अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियां जटिल होती गई हैं, प्रत्येक देश के श्रमिक आंदोलन की समस्याओं के किसी अंतर्राष्ट्रीय केन्द्र के माध्यम से हल होने में उतनी ही अलंघ्य बाधायें खड़ी हो गयी हैं।'

"घटनाओं ने दिखा दिया है कि यह प्रस्ताव यथार्थ से मेल खाता था और सही था।

"वर्तमान कम्युनिस्ट आंदोलन में किसको किसे नेतृत्व देने का अधिकार है, यह सवाल बिलकुल नहीं उठ सकता। बिरादराना पार्टियों को स्वतंत्र और पूर्णतः समान दर्जे का होना चाहिए और **साथ ही, उन्हें एकताबद्ध भी होना चाहिए। साझा सरोकार के सवालों पर उन्हें विचार-विमर्श के जरिए आम सहमति पर पहुँचना चाहिए और उन्हें साझा लक्ष्य के संघर्ष में अपने क्रिया-कलापों को केन्द्रित करना चाहिए।"**

(महान बहस, अंतर्राष्ट्रीय प्रकाशन, 1998, पृष्ठ 257-258, जोर हमारा)

इंटरनेशनल को भंग करने के बारे में "महान बहस" की इस अवस्थिति की तुलना लिबरेशन की अवस्थिति से कीजिए, बात तुरंत स्पष्ट हो जायगी। 1943 में कौमिन्टर्न को भंग करने का निर्णय द्वितीय विश्व युद्ध की चरम सीमा पर लिया गया था। उस समय वैश्विक व देशज स्थितियां अत्यंत जटिल हो गई थीं। वह सामान्य नहीं, बेहद असामान्य स्थिति थी। कौमिन्टर्न का अध्यक्ष मण्डल जब जटिल परिस्थितियों का जिक्र करता है तो यही जटिल स्थिति उसकी पृष्ठभूमि में है। कौमिन्टर्न को भंग करने के प्रस्ताव पर जो बहस हुई उसका विहंगम अवलोकन ही इसे साबित कर देगा। इसे किसी भी सूरत में आम उसूल बना देना, किसी भी दृष्टिकोण से ठीक नहीं है।

दूसरे, कौमिन्टर्न के अध्यक्ष मण्डल का प्रस्ताव यह बात कहता है कि विभिन्न कम्युनिस्ट पार्टियों के सामने प्रस्तुत समस्याओं से निपटने में उपरोक्त जटिल स्थिति ने कौमिन्टर्न के सामने अलंघ्य बाधाएं खड़ी कर दीं। इसे इस रूप में देखना कि स्वयं कौमिन्टर्न ही कम्युनिस्ट पार्टियों के विकास में बाधक हो गया, जैसा कि लिबरेशन कहता है, निहायत गलत है। यह बातों को तोड़ना-मरोड़ना है। यहां यह भी दिखाई देता है कि एक देश में

समाजवाद के निर्माण का सवाल कहीं नहीं उठाया गया है। यह ठीक भी है क्योंकि इंटरनेशनल के होने-न-होने के मामले में यह सवाल महत्वहीन है। उस पूरे दौर में जब सोवियत संघ में समाजवाद का निर्माण किया गया, तब तीसरा इंटरनेशनल बना रहा (1919-1943)। इस इंटरनेशनल ने अकेले सोवियत संघ में समाजवाद के निर्माण में मदद ही पहुंचाई, यह बाधा नहीं बना। यह जब भंग हुआ तब समाजवादी निर्माण का कार्य पूरा हो चुका था। अतः इंटरनेशनल के सवाल को ट्राटस्कीवाद से जोड़ना एकदम बकवास है क्योंकि इसका मतलब यह निकलता है कि जो कोई भी इंटरनेशनल की जरूरत की बात करता है, वह मार्क्सवादी-लेनिनवादी नहीं ट्राटस्कीवादी है। इसका मतलब निकलता है कि केवल वही लोग इंटरनेशनल की वकालत करते हैं जो एक देश में समाजवाद के निर्माण से इंकार करते हैं तथा ट्राटस्की की "सतत क्रांति" के सिद्धान्त में यकीन करते हैं।

लिबरेशन का कहना है कि 1943 में कौमिन्टर्न के भंग होने के बाद "मार्क्सवाद-लेनिनवाद का आम बन्धन, साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्ष में आम लाइन की स्वीकृति और पारस्परिक सहायता व समर्थन–ये ही पर्याप्त समझे गये।" यह बात "महान बहस" में प्रस्तुत लाइन की विरोधी है क्योंकि "महान बहस" का कहना है कि कम्युनिस्ट पार्टियों को "साझा लक्ष्य के संघर्ष में" अपने क्रिया-कलापों को केन्द्रित करना चाहिए।" अब, क्रिया-कलापों का केन्द्रीकरण किसी तरह के केन्द्र के बिना क्या संभव है? स्पष्टतः नहीं। वह केन्द्र कैसा भी हो, बहुत कसा हुआ हो या ढीला-ढीला, लेकिन होगा वह केन्द्र ही। क्योंकि बिना किसी केन्द्र के, केन्द्रीकरण संभव नहीं है।

प्रथम, द्वितीय और तृतीय, तीनों इंटरनेशनलों का इतिहास यह दिखाता है कि समय और परिस्थितियों के हिसाब से इंटरनेशनलों का चरित्र और सांगठनिक रूप अत्यन्त भिन्न रहा है। जहां प्रथम इंटरनेशनल अपने को मजदूर पार्टियां कहने वाले संगठनों का ढीला-ढाला जमावड़ा (जिनमें मार्क्सवादी, गैर मार्क्सवादी, सुधारवादी, क्रांतिकारी, अराजकतावादी थे) था, वहीं दूसरे इंटरनेशनल की सभी पार्टियां मूलतः मार्क्सवाद को स्वीकार करने वाली पार्टियां थीं। तीसरा इंटरनेशनल इससे भी ज्यादा कसा हुआ था। उसके सभी हिस्से क्रांतिकारी कम्युनिस्ट थे तथा उसका संगठन एक कम्युनिस्ट पार्टी की तरह गठा हुआ था। इसी से स्पष्ट है कि समय के साथ-साथ इंटरनेशनल का चरित्र व रूप बदलता रहा है। अब जो इंटरनेशनल बनेगा, उसका चरित्र व संगठन पहले के इंटरनेशनलों से भिन्न होगा। लेकिन उसकी जरूरत मात्र से इंकार करना या यहां तक कि उसे कम्युनिस्ट आंदोलन के रास्ते में बाधा के बतौर घोषित कर देना, निहायत गलत है। यह गलती केवल राष्ट्रीय संकीर्णतावाद की ओर ही ले जा सकती है।

इस तरह हम देखते हैं कि लिबरेशन एक अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट केन्द्र के बारे में कम्युनिस्ट परंपरा और सर्वहारा अंतर्राष्ट्रीयतावाद से घातक विचलन करता है। जैसा कि हम देखेंगे, इसका यह विचलन आगे भी बना रहता है और विकसित होता है।

लिबरेशन की इस तीसरी कांग्रेस ने अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन की आम दिशा के बतौर तब तक स्वीकृत और सभी मार्क्सवादी-लेनिनवादियों द्वारा तब तक स्वीकार्य 1963 की आम दिशा को छोड़कर डेंग के तीन दुनिया के सिद्धान्त को अपना लिया। यह

सब माओ के नाम पर किया गया। यह प्रकारान्तर से डेंगवाद को स्वीकार करना था।

> "दुनिया को तीन भागों में विभाजित करने का सिद्धान्त और माओत्से तुंग द्वारा अंतर्राष्ट्रीय सर्वहारा व समाजवादी देशों की राजनीति व कार्यनीति का निर्धारण एकमात्र सही सिद्धान्त के रूप में आज भी कारगर है।"
>
> (वही, पृष्ठ 3.32)
>
> "माओ द्वारा प्रतिपादित तीन दुनिया का सिद्धान्त–जो साम्राज्यवाद और उत्पीड़ित राष्ट्रों के बीच के अंतर्विरोध को प्रधान अंतविरोध मानने पर आधारित है, और जो समाजवादी देशों और अंतर्राष्ट्रीय सर्वहारा से तीसरी दुनिया के उत्पीड़ित राष्ट्रों के पक्ष में दृढ़तापूर्वक खड़ा होने, दूसरी दुनिया व पहली दुनिया के बीच के अंतर्विरोधों का इस्तेमाल करने तथा दो अतिमहाशक्तियों के खिलाफ अपना संघर्ष केन्द्रित करने की मांग करता है–अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन की आम दिशा के लिए हमारा मार्ग दर्शक उसूल है।"
>
> (वही, पृष्ठ 3.37)

माओ के नाम पर वर्ग सहयोग का यह सिद्धान्त वस्तुतः डेंग स्याओ पिंग का संशोधनवादी सिद्धान्त है। यह तीसरी दुनिया के देशों समेत विकसित देशों के भीतर के शोषक और शोषितों के फर्क को गायब कर उन्हें "मोनोलिथिक" देशों के रूप में चिन्हित करता है। वह यह बात गायब कर देता है कि उत्पीड़ित राष्ट्रों के भीतर भी शोषक वर्ग–पूंजीपति, सामंती अवशेष इत्यादि–मौजूद हैं जो वहां की पीड़ित जनता के दुश्मन हैं। इसी तरह साम्राज्यवादी देशों–दूसरी व तीसरी दुनिया के देशों–के भीतर सर्वहारा और पूंजीपति वर्ग का भीषण संघर्ष भी वह गायब कर देता है। बस, बच जाते हैं केवल "देश"। इसकी 1963 की आम दिशा में प्रस्तुत अंतर्विरोधों से तुलना करके देखिए, बात एकदम स्पष्ट हो जायगी :

> "वर्तमान विश्व के बुनियादी अंतर्विरोध कौन से हैं? मार्क्सवादी-लेनिनवादी सदा मानते आये हैं कि वे इस प्रकार हैं : समाजवादी खेमे और साम्राज्यवादी खेमे के बीच का अंतर्विरोध; पूंजीवादी देशों में सर्वहारा वर्ग और पूंजीपति वर्ग के बीच का अंतर्विरोध; उत्पीड़ित राष्ट्रों और साम्राज्यवाद के बीच का अंतर्विरोध; तथा साम्राज्यवादी देशों के बीच के और इजारेदार पूंजीपति गुटों के बीच के अंतर्विरोध।"
>
> (महान बहस, अंतर्राष्ट्रीय प्रकाशन, 1998, पृष्ठ-4)

बाद में सोवियत संघ के सामाजिक साम्राज्यवादी बन जाने के साथ यह भी साम्राज्यवादियों की पांत में जा खड़ा हुआ।

इन स्पष्ट बातों के बरक्स दुनिया को तीन हिस्सों में बांटना और उनके अंतर्विरोधों को चालक शक्ति बताना, केवल और केवल पूंजीपति वर्ग की ही सेवा कर सकता है। डेंग गुट के लिए ऐसा करना स्वाभाविक था क्योंकि इसके द्वारा वह अपनी संशोधनवादी नीतियों को परवान चढ़ा सकता था, लेकिन लिबरेशन द्वारा उसका समर्थन डेंग गुट का भद्दा अनुकरण ही था।

अब हम आखिरी बात पर आते हैं, वह है विभिन्न कम्युनिस्ट और संशोधनवादी पार्टियों के बारे में लिबरेशन का तीसरी कांग्रेस में रुख। चूंकि समाजवादी समाज मे बहु पार्टी व्यवस्था का अभी सवाल उठा ही नहीं था, अतः हम उस पर तभी बात करेंगे जब वह सवाल लिबरेशन द्वारा उठाया गया (पांचवी कांग्रेस)।

विभिन्न पार्टियों के बारे में किसी पार्टी का रुख प्रकारान्तर से यह बताता है कि खुद वह पार्टी विचारधारात्मक स्तर पर कहां खड़ी है। यदि वह क्रांतिकारी पार्टियों का समर्थन करती है और संशोधनवादियों की भर्त्सना तो वह स्वयं क्रांतिकारी अवस्थिति पर खड़ी है। यदि वह इसका उल्टा काम कर रही है तो वह या तो अवसरवाद कर रही है या पूर्णतया संशोधनवादी हो चुकी है। आप क्या हैं, यह आपकी संगत घोषित करती है।

हम पहले ही देख चुके हैं कि लिबरेशन सोवियत पार्टी को सामाजिक साम्राज्यवादी तथा चीनी पार्टी को कम्युनिस्ट पार्टी के नामों से चिन्हित करता है। यहां, वह जहां पहले के मामले में सही जगह खड़ा है, वहीं दूसरे के मामले में सीधे-सीधे अवसरवाद कर रहा है। सारे नकारात्मक संकेतों और प्रमाणों के बावजूद वह चीनी पार्टी को संशोधनवादी घोषित नहीं करता।

दूसरी ओर वह आर. ओ. सी. समेत उन 13 संगठनों को "ट्राटस्कीवादी" घोषित कर देता है जिन्होंने RIM का निर्माण किया तथा जिनका नेतृत्व अमेरिका की क्रांतिकारी कम्युनिस्ट पार्टी कर रही है। ऐसा करने की मुख्य वजह यह है कि इन लोगों ने चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की नीतियों का विरोध किया और उसे संशोधनवादी कहने की हिमाकत की। इन्हें "ट्राटस्कीवादी" घोषित करने में लिबरेशन "इनके अंदरूनी में मामले में दखल देने से परहेज" करने के "उसूल" का पालन नहीं करता।

इसके बक्स वह यूरो-कम्युनिस्टों में एक सकारात्मक विकास देखता है क्योंकि ये पार्टियां सोवियत पार्टी की दादागिरी का विरोध कर रही हैं और "अपनी कार्यवाहियों में कुछ नये मूल्यांकन कर रही हैं।" नेपाल की कम्युनिस्ट पार्टी के विकास को यह प्रशंसात्मक निगाह से देखता है : "नेपाल की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी-लेनिनवादी) ने हाल के वर्षों में काफी प्रभावशाली विकास किया है।" यह वही पार्टी है जो '90 के दशक में सत्तानशीन हुई।

जहां तक भारतीय पार्टियों का सवाल है, लिबरेशन तीसरी पार्टी कांग्रेस में हर जगह सी.पी.आई. को संशोधनवादी और सी.पी.एम. को नव-संशोधनवादी कहता है। यह बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि चौथी कांग्रेस के बाद इसने इन दोनों पार्टियों को संशोधनवादी कहना बन्द कर दिया और उन्हें वामपंथी पार्टियां कहना शुरु कर दिया। उनके नामों में यह रूपान्तरण खुद लिबरेशन के संशोधनवादी के रूप में रूपान्तरण के समान्तर हुआ।

एस. एन. सिंह ग्रुप को लिबरेशन इस समय विलोपवादी घोषित करता है तथा कानू सान्याल ग्रुप को "परले दर्जे का गद्दार।" यहां यह मजेदार बात है कि 1996 में लिबरेशन इन दोनों के उत्तराधिकारी संगठनों के साथ संयुक्त मोर्चे में शामिल हो गया—साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चे के नाम पर।

विभिन्न राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट पार्टियों/संगठनों के प्रति लिबरेशन का रुख उसके अवसरवाद के ही अनुरुप है। वह कुछ को सही नामों से पुकारता है तो कुछ को क्रांतिकारी बताता है जबकि वे संशोधनवाद में पतित हो चुके हैं।

तीसरी कांग्रेस की उपरोक्त समीक्षा से यह बात साफ तौर पर उभर कर आती है कि कुछ क्रांतिकारी अवस्थितियों पर खड़ा रहने के बावजूद, लिबरेशन इस समय तक बहुत बड़े पैमाने का अवसरवाद करने लगा था। यहां से संशोधनवाद बस कुछ ही कदम दूर था। और

यह कदम उसने 1985 में उठना शुरु कर दिया जो 1988 आते-आते पूरा हो गया। इसकी सबसे अधिक अभिव्यक्ति हुई 1988 की चौथी पार्टी कांग्रेस में। अब हम चौथी पार्टी कांग्रेस के दस्तावेजों का अध्ययन कर इसके संशोधनवाद के विभिन्न पहलुओं के जांच-परख करेंगे।

चौथी पार्टी कांग्रेस

सबसे पहले सोवियत संघ के सवाल को लें। यह वही सवाल है जिसमें लिबरेशन का संशोधनवाद सबसे मुखर रुप में अभिव्यक्त हुआ।

सोवियत संघ के बारे लिबरेशन ने पिछले 20 साल से भारत के मार्क्सवादी-लेनिनवादी खेमे में सही माने जाने वाली अवस्थिति छोड़ दी जिसको वह खुद अभी तक अपहोल्ड किये हुए था। इसने खुश्चेव काल में सोवियत संघ में पूंजीवाद की पुनर्स्थापना को नकार कर इसे समाजवादी कहना शुरु कर दिया तथा यह घोषित कर दिया कि सोवियत संघ की सामाजिक साम्राज्यवादी के रूप में अभी तक पहचान गलत थी। इसके लिए इसने अपनी "आत्म-आलोचना" भी कर ली।

लिबरेशन को मालूम था कि सोवियत संघ के बारे में पुनर्मूल्यांकन इसे क्रांतिकारी कतारों से निष्कासित कर देगा, इसीलिए इसने अपनी ओर से भरसक यदि-किन्तु-परन्तु किया। वैसे भी किसी संशोधनवादी का यही चरित्र होता है। वह कभी भी डंके की चोट पर कोई बात नहीं कहता, जैसा कि क्रांतिकारी करते हैं। वह एक बात कहता है, साथ ही विरोधी बात भी स्वीकार कर लेता है। वह राम की जय बोलता है, और रावण की भी। वह माओ को भी सही बताता है और डेंग व गोर्बाचोव को भी। वह मुंह चुराता है, बातें अस्पष्ट छोड़ देता है तथा कुछ इस अंदाज में बातें कहता है कि उसके मनचाहे अर्थ निकाले जा सकें। सोवियत संघ के मामले में भी उसने चौथी कांग्रेस में यही किया। आइये, देखें।

> "हमें मालूम है कि सोवियत संघ के पुनर्मूल्यांकन का कोई भी प्रयास हमारी पार्टी और हमारे आंदोलन के अंदर ढेर सारे विवादों को जन्म देगा। फिर भी इस कार्यभार को अब टाला नहीं जा सकता है क्योंकि यह प्रश्न अतीत में हमारी पार्टी लाइन में पैदा हुई कुछ खास विकृतियों से और साथ ही मौजूदा अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन की विकासमान प्रवृत्ति के बारे में कोई निश्चित रवैया अख्तियार करने के विषय से, सीधे तौर पर जुड़ा हुआ है।
> "पिछले दो वर्षों से पार्टी की केन्द्रीय कमेटी सोवियत संघ के प्रश्न के विभिन्न पहलुओं की छान-बीन कर रही है।"
>
> (भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (माले) के दस्तावेज,
> चौथी अखिल भारतीय कांग्रेस द्वारा पारित, पृष्ठ 1.1.7)

> "बहरहाल, चेकोस्लोवाकिया की घटना के बाद चीनी नेतृत्व की देखादेखी हमने भी सोवियत संघ को सामाजिक साम्राज्यवादी का खिताब दे दिया। यह संज्ञा अब अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन में उभरी किसी अवसरवादी प्रवृत्ति से ताल्लुक नहीं रखती थी। सत्तर दशक का मध्य आते-आते सामाजिक साम्राज्यवाद के सूत्रीकरण की पुष्टि के लिए सोवियत संघ में वित्तीय पूंजी और इजारेदारियों के विकास का भी आविष्कार कर लिया गया, इसके बाद पता चला कि रूस **दुनिया के पुनर्विभाजन** में भी लिप्त है और **नवागंतुक** होने के कारण उसे हमलावर की संज्ञा दे दी गई। द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले की परिस्थितियों से समानताएं

खोजकर सोवियत संघ को हिटलर के जर्मनी का दर्जा दे दिया गया और उसे तीसरे विश्व युद्ध के खतरे का मुख्य स्रोत ठहरा दिया गया। ये तमाम सैद्धान्तिक कसरतें केवल पूर्व निर्धारित सैद्धान्तिक चौखटे में चुनिंदा तथ्यों को फिट करने की सीधी-सादी मिसाल साबित हुईं।"

(वही, पृष्ठ 1.1.8-1.1.9)

लिबरेशन ने अतीत की इन "गलतियों" के लिये "आत्मालोचना" की तथा घोषित किया कि–

"चन्द नौकरशाही विकृतियों के बावजूद सोवियत संघ के उत्पादन संबंध मोटे तौर पर समाजवादी ही कहे जा सकते हैं।"

(वही, पृष्ठ 1.1.10)

सोवियत पार्टी गोर्बाचोव के नेतृत्व में इन "विकृतियों" को ठीक करने का प्रयास कर रही थी और इसीलिए लिबरेशन इनका समर्थन करता है :

"हमें याद रखना चाहिए कि **हर कम्युनिस्ट पार्टी के शुद्धिकरण का अपना अलग रास्ता होता है और इसीलिए हमें सोवियत संघ में हो रहे सकारात्मक परिवर्तनों का स्वागत करना चाहिए।**"

(वही, पृष्ठ 1.1.12, जोर मूल में)

उन लोगों के सवाल के जवाब में जो राजकीय पूंजीवाद के अचानक समाजवाद में तब्दील हो जाने का सवाल उठा रहे थे, महासचिव विनोद मिश्र ने अपनी व्याख्यात्मक टिप्पणियों में यह जवाब दिया :

"यहां हमने सोवियत अर्थतंत्र के बारे में विस्तार से चर्चा क्यों नहीं की? कारण यह है कि सोवियत संघ को सामाजिक साम्राज्यवादी का खिताब देते वक्त **हमने यह दावा नहीं किया कि उसका अर्थतंत्र समाजवादी नहीं है;** या हमने उन लोगों की नकल नहीं की जो सोवियत संघ को क्रांति-परिवर्ती समाज या राज्यवादी समाज वगैरह बताते हैं। हमने एक दूसरी चीज को, उनकी बाहरी करतूतों को प्रस्थान बिन्दु बनाया था–मसलन चेकोस्लोवाकिया पर हमला, वगैरह। और **अपनी गलती को सुधारते वक्त भी हमने यह नहीं कहा है कि सोवियत अर्थतंत्र में कोई परिवर्तन हुआ है–वह पहले सामाजिक साम्राज्यवादी अर्थतंत्र और अब उसका समाजवादी अर्थतंत्र में रूपान्तर हो गया है।** बल्कि सोवियत के चरित्र निर्धारण के संबंध में हमारी मुख्य गलती यही थी कि हमने उसके आर्थिक आधार के विश्लेषण को, उसके उत्पादन संबंधों को मद्देनजर नहीं रखा। राजनीतिक सांगठनिक रिपोर्ट में इस बात पर जोर दिया गया है कि सोवियत संघ का आर्थिक आधार समाजवादी है, पर उसमें विकृतियों मौजूद रह सकती हैं।"

(वही, पृष्ठ 1.7.1 जोर हमारा)

"क्या रूस को समाजवादी के बतौर मानने के साथ-साथ "प्रभुत्ववादी" या "अतिमहाशक्ति" जैसे विशेषणों को वापस ले लेना चाहिए?.... हमारी मान्यता यह है कि "प्रभुत्ववादी" या "अतिमहाशक्ति" की परिघटना कुछ ऊपरी ढांचे के पहलुओं से संबंधित है, अंतर्वस्तु के तौर पर यह परिघटना आर्थिक आधार से नहीं जुड़ी है।"

(वही, पृष्ठ 1.7.2)

"फिर भी, हमें सोवियत संघ को "प्रभुत्ववादी" या "अति महाशक्ति" कहने के पीछे आर्थिक आधार नहीं खोजना चाहिए क्योंकि यही गलती हमें रूस को सामाजिक साम्राज्यवादी बताने की ओर ले गई थी।"

(वही, पृष्ठ 1.7.3)

कोई अवसरवादी जब अपने को न्यायसंगत ठहराने की कोशिश करता है तो वह

पूर्णतया अपने चरित्र को उजागर कर देता है और सीधे-सीधे संशोधनवादी स्थितियों तक पहुंच जाता है। लिबरेशन के साथ भी यही हुआ। इसने तीसरी कांग्रेस के समय चीन और चीनी कम्युनिस्ट पार्टी तथा सांस्कृतिक क्रांति के सवाल पर साफ-साफ अवस्थिति ग्रहण करने से इंकार किया था। उसने ऐसा क्यों किया, यह सोवियत संघ के संदर्भ में उद्घाटित हो गया और जो निकलकर सामने आया उससे साबित हो गया कि वह माओ व महान बहस को केवल नाम के लिए अपहोल्ड करता है, उसकी वास्तविक अवस्थिति इनकी शिक्षाओं के खिलाफ है और पहले भी रही है। लिबरेशन का कहना है कि उसने पहले यह दावा नहीं किया था कि सोवियत अर्थतंत्र समाजवादी नहीं है और इसीलिए सामाजिक साम्राज्यवाद की गलती सुधारते वक्त आर्थिक आधार में किसी परिवर्तन की बात करने की जरूरत नहीं। यानि लिबरेशन प्रकारान्तर से कहना चाहता है कि वह हमेशा से ही सोवियत अर्थतंत्र को समाजवादी मानता रहा है। यह और भी भयानक अवस्थिति है। यदि लिबरेशन का यह कहना मान लिया जाय तो इसका सीधा सा मतलब है कि इसने **महान बहस** में माओ और तत्कालीन चीनी पार्टी की अवस्थिति को कभी सही नहीं माना जिसमें कहा गया था कि ख्रुश्चेवी संशोधनवाद के साथ सोवियत संघ में पूंजीवाद की पुनर्स्थापना हो गई। यह प्रकारान्तर से **महान बहस** की तीसरी टिप्पणी का भी निषेध है जिसमें यूगोस्लाविया में पूंजीवादी पुनर्स्थापना को साबित किया गया था। कुल मिलाकर यह समूचे **महान बहस** की आत्मा का निषेध है और सांस्कृतिक क्रांति का भी। इसके बाद माओ विचारधारा और **महान बहस** में क्या बचता है?

लेकिन लिबरेशन एक सच्चे संशोधनवादी की तरह व्यवहार करते हुए कभी भी माओ और चीनी पार्टी की आलोचना नहीं करता कि उसने एक गलत अवधारणा पेश की और कम्युनिस्ट आंदोलन को गुमराह किया। वह इस सवाल को उठाने का साहस भी नहीं करता।

लिबरेशन सोवियत संघ को सामाजिक साम्राज्यवादी कहने का कारण अपना अधिभूतवाद बताता है तथा इसके लिए अपनी "आत्मालोचना" करता है। लेकिन इसका असली अधिभूतवाद तो तब शुरु होता है जब वह "प्रभुत्ववाद" और "अति महाशक्ति" परिघटना को अधिरचना का हिस्सा बता देता है जिसका कोई आर्थिक आधार नहीं है। एक देश बीस-पच्चीस साल तक "प्रभुत्ववादी" है, वह कई देशों में "प्राक्सी" युद्ध लड़ता है, एक देश मे सेना भेजकर उस पर कब्जा कर लेता है, कई देशों को अपना उपग्रह बनाए रखता है लेकिन तब भी ये सारी चीजें अधिरचना का हिस्सा बनी रहती हैं जिनके पीछे कोई आर्थिक आधार नहीं है। अभी तक सारे मार्क्सवादी यही मानते रहे हैं कि राजनीति, अर्थव्यवस्था की घनीभूत अभिव्यक्ति है तथा युद्ध अन्य साधनों से राजनीति का ही जारी रूप है, लेकिन लिबरेशन हमें यह बताना चाहता है कि "प्रभुत्ववादी" राजनीति और युद्ध का अर्थव्यवस्था से कोई संबंध नहीं है। आर्थिक आधार तो समाजवादी है, परन्तु उसके शासक पता नहीं क्यों "प्रभुत्ववादी" हो गये हैं! क्या इससे बड़ा अधिभूतवादी कोई हो सकता है?

इन चीजों से साफ है कि लिबरेशन द्वारा सोवियत संघ को समाजवादी देश के रूप में चित्रित करने का नया कारनामा उसके अवसरवाद का ही तार्किक विकास था। पहले जो चीजें उसके अवसरवाद के तहत ढकी-मुंदी थी, चौथी कांग्रेस तक आते-आते वे खुलकर

सामने आ गई और अवसरवाद संपूर्ण संशोधनवाद में प्रकट हो गया। अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन की सर्वस्वीकृत अवस्थितियों का यह त्याग कोई अचानक घटने वाली घटना नहीं थी, बल्कि वह तो उसी चीज की निरंतरता थी जो लिबरेशन से चीन को समाजवादी कहलवाती थी। अब यदि सारे संशोधनवाद के बावजूद चीन समाजवादी हो सकता है तो उससे कम "खुली" और "निजीकरण" की नीतियों वाला सोवियत संघ क्यों नहीं? इसके रास्ते में पुराना "सामाजिक साम्राज्यवाद" का सूत्रीकरण बाधक था, सो वह हटा दिया गया। लिबरेशन की लाइन एकदम सुसंगत हो गई—अब चीन भी समाजवादी और सोवियत संघ भी समाजवादी। बस लिबरेशन खुद अवसरवाद से बढ़कर संशोधनवाद तक पहुंच गया।

यहां हम सोवियत संघ को राज-ईजारेदार पूंजीवादी तथा सामाजिक साम्राज्यवादी कहने वालों की दलीलों (इसमें माओ और उनकी चीनी कम्युनिस्ट पार्टी भी शामिल थे) को पेश नहीं करने जा रहे हैं। अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन में वे इतनी जानी-पहचानी हैं कि उन्हें दुहराने की जरूरत नहीं। हम तो माओ विचारधारा को मानने की बात करने वाले लिबरेशन के उस अवस्थिति से पूर्ण पलायन को बस रेखांकित करना चाहते थे।

अब हम सांस्कृतिक क्रांति पर आते हैं। प्रत्यक्ष तौर पर सांस्कृतिक क्रांति पर चौथी कांग्रेस के समूचे दस्तावेज में कोई चर्चा नहीं है। यहां तक कि इसके नाम का भी एक बार भी उल्लेख नहीं है। लेकिन सोवियत संघ के बारे में अपनी उलटबांसियों को स्थापित करने के चक्कर में लिबरेशन द्वारा जो बातें कही गयी हैं, वे सीधे-सीधे **महान बहस** और सांस्कृतिक क्रांति की शिक्षाओं का निषेध हैं।

जैसी कि आम बात है, दुनिया के सारे कम्युनिस्ट माओ और चीनी पार्टी की बातों का अनुसरण करते हुए सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के देशों को समाजवादी नहीं बल्कि राजकीय पूंजीवाद के तौर पर चित्रित करते रहे हैं। इनका मजाक उड़ाते हुए लिबरेशन कहता है :

> "ऐसे तमाम अति वामपंथी सिद्धान्त जो इन मंजिलों को लांघकर समाजवाद के निर्माण की वकालत करते हैं, काल्पनिक समाजवाद की ही विभिन्न किस्में हैं और इन सिद्धान्तों के पैरोकारों को दुनिया में समाजवाद का कोई अस्तित्व ही नहीं दीखता; उनके लिहाज से समाजवाद को पूंजीवाद के हाथों विश्वव्यापी ऐतिहासिक पराजय का मुंह देखना पड़ा है। कैसी विडंबना है कि ठीक इसी मुकाम पर अति वामपंथी विचार अति दक्षिणपंथी विचारों के साथ बिलकुल मिल जाते हैं। हम मार्क्सवादी-लेनिनवादियों को ऐसे विचारों को बिलकुल ठुकरा देना चाहिए।"
>
> (वही, पृष्ठ 1.1.14)

निश्चय ही, आप "मार्क्सवादी-लेनिनवादी" हैं लेकिन वैसे ही "मार्क्सवादी लेनिनवादी" जैसे सी.पी.आई. और सी.पी.एम. हैं। वे भी अपने को मार्क्सवादी-लेनिनवादी कहते हैं और वे भी सोवियत संघ, पूर्वी यूरोप समेत तमाम संशोधनवादी सत्ताओं के तहत समाजवादी समाज के फलने-फूलने की घोषणा करते हैं। सी.पी.एम. आप ही की तरह खुश्चेव को संशोधनवादी कहती है और सोवियत संघ में समाजवाद की मौजूदगी को मानती है। जहां तक माओ और सभी सच्चे माओवादियों का सवाल है, वे आपकी नजर में अति वामपंथी और काल्पनिक समाजवाद की हिमायत करने वाले लोग हैं। आश्चर्य है कि फिर भी आप अपने को माओ विचाराधारा को मानने वालों की श्रेणी में शामिल करते हैं। ईश्वर माओ

विचारधारा को आप जैसे अनुयाइयों से बचाए!

और माओ विचारधारा को आप जैसे अनुयाइयों से निश्चित तौर पर बचाने की जरूरत है क्योंकि समाजवादी समाज के बारे में आप जो सैद्धान्तिक प्रस्थापनाएं पेश करते हैं वे सीधे-सीधे सांस्कृतिक क्रांति व **महान बहस** की प्रस्थापनाओं की विरोधी हैं।

> **"वैज्ञानिक समाजवाद तो इसीलिए वैज्ञानिक कहलाता है क्योंकि वह पूंजीवादी समाज के गर्भ से पैदा होने वाली एक नयी समाज व्यवस्था के उदय की बिलकुल सही तस्वीर आंकता है। चूंकि यह नयी व्यवस्था पूंजीवादी समाज के रूपान्तरण की प्रक्रिया में विकसित होती है इसलिए इसके साथ अनेक अशुद्धियां और विकृतियां भी जुड़ी होती हैं—फिर नेतृत्व की गलतियां इन विकृतियों को और जटिल बना देती हैं। *लेकिन समाजवादी व्यवस्था के पास अपना शक्तिशाली भौतिक आधार होता है, अपनी विकसित वर्ग शक्ति और कम्युनिस्ट पार्टी होती है; पुरानी राज्य सत्ता का ध्वंस करके कायम की गई नयी राज्य सत्ता होती है; और इसीलिए पूंजीवाद के खिलाफ इसके ऐतिहासिक अभियान की दिशा उल्टी नहीं जा सकती।* धक्के के विभिन्न दौर समाजवाद की महायात्रा में बस छोटे-मोटे ठहराव कहे जा सकते हैं।**
>
> (वही, पृष्ठ 1.1.14, जोर मूल में, इटैलिक्स हमारा)

उपरोक्त इटैलिक्स किए गये वाक्य सांस्कृतिक क्रांति की मूल अवधारणा का ही निषेध हैं। **महान बहस** और सांस्कृतिक क्रांति में माओ ने मूलतः यही स्थापित करने की कोशिश की थी कि समाजवादी समाज में वर्ग संघर्ष जारी रहता है तथा यदि पूंजीवादी तत्वों को खत्म नहीं किया गया, उन पर रोक नहीं लगाई गई तो कभी भी पूंजीवाद की पुनर्स्थापना हो सकती है। माओ ने तो यहां तक कहा कि इस पुनर्स्थापना में महज एक दशाब्दी या ज्यादा से ज्यादा कुछ दशाब्दियां लग सकती हैं। इसी संभावना को खत्म करने के लिए और पूंजीवाद की पुनर्स्थापना को रोकने के लिए सांस्कृतिक क्रांति की जरूरत पेश की गई लेकिन साथ ही कहा गया कि केवल एक नहीं, कई सांस्कृतिक क्रांतियों की आवश्यकता होगी। बार-बार इस बात को रेखांकित किया गया कि पूंजीवाद और समाजवाद में कौन विजयी होगा, यह तय नहीं हुआ है तथा जनता और क्रांतिकारी कतारों का आह्वान किया गया कि वे इसे हर दिन, हर घंटे, हर क्षण दुहरायें और याद रखें। और अब लिबरेशन आता है और कहता है कि पूंजीवाद के खिलाफ समाजवाद के ऐतिहासिक अभियान की दिशा उल्टी नहीं जा सकती। समाजवाद एक बार विजयी हो गया तो हो गया। पूंजीवाद की पुनर्स्थापना होना असंभव है। और यह सब कहते हुए लिबरेशन हमसे चाहता है कि हम उसे माओ विचारधारा का अनुयायी मानें!

समय भी कितना क्रूर होता है! पूंजीवाद की पुनर्स्थापना की संभावना से इस सैद्धान्तिक नकार के महज दो साल बाद ही पूर्वी यूरोप में व चार साल बाद सोवियत संघ में "समाजवाद" ध्वस्त हो गया। यानि राजकीय पूंजीवाद खुले पूंजीवाद में तब्दील हो गया। लिबरेशन के दृष्टिकोण से देखें तो उसके समाजवाद की "पूंजीवाद के हाथों विश्व ऐतिहासिक पराजय हो गई।" लेकिन लिबरेशन इसी बात से तो 1988 में तथ्यतः और सिद्धान्ततः इंकार कर रहा था। परन्तु खुद क्रूर समय ने ही उसके "सिद्धान्त" की बखिया उधेड़ दी और अपने थप्पड़ों से उसके दिवालियापन को उजागर कर दिया। संशोधनवादी कितनी भी

कोशिश करें, खुद इतिहास की गति ही उनके उसकी चरित्र को नंगा कर देती है।

यदि लिबरेशन ने अपनी पुरानी अवस्थितियों को छोड़कर सोवियत संघ को सामाजिक साम्राज्यवादी के बदले समाजवादी कहना शुरु कर दिया तो चीन के बारे में वह अपने मूल्यांकन को क्यों बदले? वह तो सदा से ही चीन को समाजवादी मानता आया था। चौथी कांग्रेस में भी उसने चीन को समाजवादी के रूप में ही परिभाषित किया।

> "चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने हाल में अपनी तेरहवीं कांग्रेस सम्पन्न की है, जिसमें आर्थिक और राजनीतिक सुधार की प्रक्रिया को और ज्यादा आवेग प्रदान किया गया है। पार्टी ने चीन में समाजवाद के मौजूदा स्तर को "प्राथमिक समाजवाद" के रूप में चित्रित किया है जहां, झाओ झिआंग की रिपोर्ट के मुताबिक 'राज्य बाजार का नियमन करता है और बाजार उद्यमों का निर्देशन करता है।' समाजवादी अर्थव्यवस्था को एक ऐसी प्रणाली कहा गया है जो 'बाजार के साथ योजना निर्माण को एकरूप करती है' तथा जिसमे योजना का निर्माण 'मालों के विनिमय के उसूल तथा मूल्य के नियम के अनुसार' किया जाता है। चीन के संयुक्त उद्यमों, सहकारी उद्यमों तथा विदेशी मालिकाने के उद्यमों को समाजवादी अर्थव्यवस्था का 'पूरक' बताया गया है। प्रस्तावित राजनीतिक सुधारों में 'पार्टी तथा सरकार के कार्यकलापों को कड़ाई के साथ पृथक करने' का प्रावधान है तथा उसमें 'अतिकेन्द्रीकरण', 'नौकरशाही' आदि की रोकथाम करने पर जोर दिया गया है। यह धारणा व्यक्त की गई है कि 'प्राथमिक समाजवाद' का स्तर काफी लम्बे समय तक बरकरार रहेगा। यह सचमुच देखने लायक चीज होगी कि चीनी कम्युनिस्ट उन नये सामाजिक तत्वों से कैसे निपटते है जो व्यक्तिगत आमदनी और प्रभाव के लिहाज से कुछ हद तक विशेष सुविधा सम्पन्न स्थिति में हैं; आर्थिक और राजनीतिक सुधार को जारी रखते हुए उसके साथ बुर्जुआ उदारतावाद के खिलाफ संघर्ष को कैसे समन्वित कर पाते हैं; तथा, आधुनिकीकरण की योजनाओं के लिए साम्राज्यवादी शक्तियों के साथ अपने आर्थिक सम्बंधों में और इजाफा करते हुए भी अपनी विदेश नीति को उनके खिलाफ कैसे निर्देशित कर पाते हैं। **अपनी ओर से हम यही कामना करते हैं कि 'चीनी विशिष्टताओं से युक्त समाजवाद' के निर्माण के प्रयत्नों में CPC को पूरी सफलता प्राप्त हो।"**
>
> (वही, पृष्ठ 1.1.12-1.1.13, जोर मूल में)

जब चीन ही नहीं, सोवियत संघ को भी समाजवादी घोषित कर दिया गया हो तथा उनकी मंगलकामना की गई हो तो फिर इन देशों में शासनरत पार्टियों और नेताओं को लिबरेशन संशोधनवादी क्यों कहे? अब वह सबको कम्युनिस्ट घोषित करता है और कहता है :

> "हां, हम निश्चय ही दुनिया के विभिन्न समाजवादी देशों और कम्युनिस्ट पार्टियों के बीच फिर से एकता बढ़ने की प्रवृत्ति का स्वागत और समर्थन करते हैं। यह प्रक्रिया सारी दुनिया में और खुद इन देशों में समाजवाद तथा कम्युनिज्म की शक्तियों को पुख्ता बनाएगी और दुनिया भर में एक बेहतर समाज की रचना के लिए संघर्षरत जनता को उत्साहित करेगी।"
>
> (वही, पृष्ठ 1.1.14)

हा! दुर्भाग्य! इन पंक्तियों के लिखे जाने के दो साल के बाद ही इनमें से लगभग सभी पार्टियों ने कम्युनिज्म का नाम लेना बन्द कर दिया और अपने नाम बदल लिए। लिबरेशन ने अपनी लाइन बदली भी तो कब?—जब अंत नजदीक आ गया था। "नीम हकीम" ने लाईलाज मरीज को तब चंगा घोषित कर दिया जब वह अंतिम सांसे ले रहा था। लेकिन संशोधनवादी क्या इससे बेहतर विश्लेषण कर सकते हैं?

शांतिपूर्ण संक्रमण के सवाल पर लिबरेशन ने चौथी कांग्रेस में अपनी पुरानी अवस्थिति

छोड़ी तो नहीं लेकिन उसके तेवर काफी नरम पड़ गये।

> "सशस्त्र क्रांति के द्वारा प्रतिक्रियावादी राज्यतंत्र को ध्वस्त करने के जरिये ही क्रांति का अंतिम नतीजा निर्धारित होगा। भारत में सशस्त्र क्रांति के उद्देश्य को आगे बढ़ाने की खातिर निम्नलिखित कार्यभारों को सही ढंग से संयोजित करना होगा :
>
> (1) .....
>
> (2) पार्टी को ग्रामीण इलाकों में अपना काम केन्द्रित करना चाहिए और कृषक प्रतिरोध संघर्ष के इलाके विकसित करने चाहिए;
>
> (3) औद्योगिक इलाके तक फैले विशाल ग्रामीण क्षेत्रों के कुछ खास आंचलों में प्रतिरोध संघर्ष को छापामार युद्ध के स्तर तक ऊँचा उठाने तथा एक दीर्घकालीन प्रक्रिया में मजदूरों-किसानों की सेना व आधार इलाके निर्मित करने के लिए पार्टी को सचेत प्रयास करना होगा;
>
> (4) शहरों में पार्टी को लम्बे समय तक शक्ति संचित करनी चाहिए और विद्रोह संगठित करने के लिए उपयुक्त मौके का इंतजार करना चाहिए;
>
> (5) पार्टी को दुश्मन की सशस्त्र शक्तियों के बीच काम करना चाहिए तथा आम सैनिकों व निचली कतारों के अफसरों के विद्रोह संगठित करने की संभावनाएं तलाशनी चाहिए।"
>
> (वही, पृष्ठ 2.2.3-2.2.4)

हालांकि सशस्त्र क्रांति के सवाल पर लिबरेशन के तेवर इस कांग्रेस तक नरम पड़ गये हैं (अब "राष्ट्रव्यापी क्रांतिकारी उभार" और "स्थानीय लोकप्रिय विद्रोह" जैसे शब्द इसके कार्यक्रम से गायब हो गये हैं जो तीसरी कांग्रेस में इसकी नयी जनवादी क्रांति के अभिन्न हिस्से थे), लेकिन तब भी अभी वह पांचवीं कांग्रेस से दूर है जब वह सेना में विद्रोह संगठित करने की संभावनाएं तलाशना छोड़कर शांतिपूर्ण संक्रमण की संभावनाएं तलाशने लगेगा।

जहां तक अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन के एक केन्द्र का सवाल है, लिबरेशन अपनी तीसरी कांग्रेस की अवस्थिति पर कायम है तथा वह विभिन्न तरीकों से केवल उसे पुष्ट ही करने का प्रयास करता है। लेकिन इससे जुड़े वक्तव्य छिटपुट ही हैं।

> "हम फिर जोर देकर कहेंगे कि अब किसी अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र पर कोई निर्भरता नहीं होनी चाहिए।"
>
> (वही, पृष्ठ 1.1.14, जोर मूल में)

यह जानबूझकर प्रश्न का विकृतीकरण है। कोई भी किसी **अंतर्राष्ट्रीय केन्द्र पर निर्भरता** की बात नहीं करता। बात केवल इतनी है कि क्या दुनिया के कम्युनिस्ट आंदोलन को दुनिया के पूंजीपति वर्ग के खिलाफ एकजुट करने के लिए कोई केन्द्र होना चाहिए या नहीं। **महान बहस** इसका जवाब हां में देती है, लिबरेशन ना में। यही मूल फर्क है। बाकी निर्भरता इत्यादि की सारी बातें बकवास हैं और प्रश्न का जान-बूझकर गलत सूत्रीकरण हैं।

तीन दुनिया के सिद्धान्त को चौथी कांग्रेस में चुपचाप छोड़ दिया गया और वह भी हमेशा के लिए। आगे पांचवीं और छठी कांग्रेसों में भी इसका जिक्र गायब है। हम नहीं जान सकते कि चौथी कांग्रेस और आगे के काल में लिबरेशन की तीन दुनिया के सिद्धान्त के बारे में क्या राय है जिसको उसने अंतर्राष्ट्रीय पैमाने पर आम दिशा के तौर पर चित्रित किया था। हम तो केवल यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अपने संशोधनवादी चरित्र के

अनुरूप इसने अपनी पहले की अवस्थिति से दृढ़तापूर्वक और खुलेआम नाता नहीं तोड़ा बल्कि उस विषय को चुपचाप छोड़ दिया। आज तो उसके दस्तावेजों से यह भी पता नहीं लगता कि वह किसे अंतर्राष्ट्रीय पैमाने पर आम दिशा मानती है।

दुनिया की विभिन्न कम्युनिस्ट पार्टियों के बारे में इसके दृष्टिकोण की थोड़ी चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं जिसमें यह साफ है कि यह उन सभी पार्टियों को कम्युनिस्ट पार्टियां मानता है, जिन्हें आम तौर पर संशोधनवादी माना जाता रहा है। यही नहीं, खुद लिबरेशन भी 1985 के पहले उन्हें संशोधनवादी मानता रहा है। लेकिन 1988 में उनसे संबंध बनाने में उसने खुशी जाहिर की। नेपाली कम्युनिस्ट पार्टी के प्रति उसका दृष्टिकोण यथावत है—यानि उत्साहपूर्वक समर्थन का।

सबसे बड़ा परिवर्तन सी.पी.आई. और सी.पी. एम. के प्रति लिबरेशन के रुख में हुआ। उसने इन्हें संशोधनवादी और नव-संशोधनवादी कहना छोड़कर सामान्य तौर पर वामपंथी कहना शुरु कर दिया। यहां तक कि जब वह खुश्चेवी संशोधनवाद की चर्चा कर रहा होता है, तब भी वह इनके संशोधनवाद को चिन्हित नहीं करता। सी.पी.आई. व सी.पी. एम. संशोधनवादियों का वामपंथी के रूप में यह चित्रण, खुद लिबरेशन के संशोधनवादी हो जाने का परिणाम है।

जहां तक समाजवादी समाज में बहु-पार्टी व्यवस्था की बात है, इसके बारे में बातचीत हम पांचवी पार्टी कांग्रेस के संदर्भ में करेंगे क्योंकि यह सवाल लिबरेशन द्वारा वहीं उठाया गया है।

चौथी पार्टी कांग्रेस की ये सारी अवस्थितियाँ यह दिखाती हैं कि लिबरेशन यहां तक आते-आते पूर्णतया संशोधनवादी संगठन में तब्दील हो गया होता है तथा पहले की अपनी बची-खुची क्रांतिकारी अवस्थितियों को छोड़ चुका होता है। अब वह विचारधारा में अवसरवादी से आगे बढ़कर संशोधनवादी हो गया होता है। इसके आगे की गति संशोधनवाद के गड्ढे में और अधिक धंसने तथा चौतरफा पतन में होती है। कई मामलों में तो यह सी.पी.आई. और सी.पी.एम. से भी ज्यादा पतन का संकेत देता है।

पांचवी पार्टी कांग्रेस

पांचवी पार्टी कांग्रेस में लिबरेशन ने विचारधारा पर एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें इसने विभिन्न विचारधारात्मक मुद्दों पर अपनी सूत्रबद्ध राय रखी। इनमें लगभग वे सभी मुद्दे हैं जिनके संदर्भ में हम लिबरेशन के संशोधनवाद की चर्चा कर रहे हैं। आइये हम इन्हें एक-एक कर लें।

सोवियत संघ के बारे में लिबरेशन का यह कहना है :

> "1. भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी-लेनिनवादी) कामरेड लेनिन के नेतृत्व में रूस की 1917 की महान अक्टूबर क्रांति की पताका को बुलंद करती है। यह महज विश्व में सर्वप्रथम सफल होने वाली सर्वहारा क्रांति ही नहीं थी, बल्कि इसने एशिया में एक नयी जागृति भी ला दी थी। हालांकि 75 वर्षों बाद यह क्रांति पराजय का शिकार हो गई फिर भी इसके ऐतिहासिक महत्व को कभी धुंधला नहीं किया जा सकता।"
>
> (पांचवी अखिल भारतीय कांग्रेस, विचारधारात्मक प्रस्ताव, पृष्ठ-5)

यह सोवियत संघ पर पूर्णतया संशोधनवादी अवस्थिति है। यह किसी भी मायने में सी.पी.आई. या सी.पी.एम. की इस विषय पर अवस्थिति से भिन्न अवस्थिति नहीं है। और यह केवल इसीलिए है कि इसने चौथी कांग्रेस के समय से सोवियत संघ को समाजवादी मानना शुरू कर दिया था। इस बाबत काफी बातें हम पहले ही कर चुके हैं। अब हम यहां केवल यह देखना चाहेंगे कि लिबरेशन सोवियत "समाजवाद" के खात्मे का क्या कारण बताता है।

इस बारे में पांचवीं कांग्रेस के दस्तावेज कोई स्पष्ट कारण नहीं बताते। वे केवल इतना ही कहते हैं :

> "सोवियत कम्युनिस्ट और समूचे यूरोप के मार्क्सवादी और प्रगतिशील बुद्धिजीवी पतन के सही कारणों की शिनाख्त करने के लिए चर्चाएं और वाद-विवाद कर रहे हैं।"
>
> (राजनीतिक सांगठनिक रिपोर्ट, पांचवीं कांग्रेस, पृष्ठ 11)
>
> "समाजवाद की विश्वव्यापी विजय की लेनिन की उम्मीदों के विपरीत ऐसा प्रतीत होता है कि विश्व पूंजीवाद ने 75 वर्षों के तीखे संघर्ष के बाद समाजवाद पर विजय प्राप्त कर ली है।"
>
> (वही, पृष्ठ 5)
>
> "आंतरिक तौर पर, सोवियत संघ में समाजवादी व्यवस्था बहुत पहले ही अपनी जीवन शक्ति खो चुकी थी और जड़ बन गई थी। विघटन की प्रक्रिया अरसे पहले शुरू हो चुकी थी, पर सब कुछ अतिमहाशक्ति होने के घमंड के मारे उसके फूलकर कुप्पा हो जाने के पीछे ढंका रहा। इस बुलबुले को तो मगर किसी न किसी दिन फूटना ही था। ...आखिर अति महाशक्ति की हैसियत धूल में मिल जाने के बाद अब ऐसी कोई डोर बाकी नहीं बची थी जो सोवियत संघ को एक साथ बांधे रखती।"
>
> (वही, पृष्ठ 6)

यह है 1992 में सोवियत "समाजवाद" के खात्मे के बारे में लिबरेशन का विश्लेषण। यह पूरी तरह संशोधनवादी तीन-तिकड़मों से भरा हुआ है। माओ विचारधारा की कसम खाने वाले इस संशोधनवादी संगठन के विश्लेषण में माओ के समाजवादी समाज के विश्लेषण का रंच मात्र भी नहीं है। यह सोवियत संघ के पतन का कारण उसके राजकीय पूंजीवाद के पतन में नहीं ढूंढता बल्कि "जीवन शक्ति" खो चुकी और "जड़" बन चुकी "समाजवादी" व्यवस्था में ढूंढता है। और इतिहास का व्यंग्य देखिये! 1988 में वह यह कह रहा था कि समाजवादी व्यवस्थाओं के खात्मे की बात कर "अति वामपंथी" और अतिदक्षिणपंथी एक ही जगह खड़े हो जाते हैं। वे तो वास्तव में खड़े नहीं थे। लेकिन 1989-1992 के काल में लिबरेशन उन दक्षिणपंथियों की जमात में जरूर शामिल हो गया जो गला फाड़-फाड़कर यह कह रहे थे कि पूर्वी यूरोप व सोवियत संघ की घटनाएं यह साबित करती हैं कि समाजवाद फेल हो गया है, एक व्यवस्था के तौर पर समाजवाद और कम्युनिज्म असफल साबित हुआ है। जब आप 1989-92 में समाजवाद के खात्मे की बात करेंगे, तो इसके सिवाय कोई निष्कर्ष नहीं निकलेगा।

जबकि हकीकत यह है कि इन देशों में समाजवाद '50-'60 के दशक में पराजित हो गया था, जब इन देशों में खुश्चेव और खुश्चेव परस्त गुट सत्तानशीन हो गया। ये देश तभी समाजवाद से राजकीय पूंजीवाद में बदल गये थे, बिलकुल उसी तरह जैसे यूगोस्लाविया इनसे

पहले राजकीय पूंजीवाद में बदल गया था, जिसका **महान बहस** में इतना सटीक विश्लेषण किया गया था। यह राजकीय पूंजीवाद (जिसमें कुछ देशों में कुछ मात्रा में निजी पूंजीवाद भी था) ही था जो "जीवन शक्ति खोता गया" और "जड़ी भूत" हो गया। इस बीच इस प्रक्रिया में एक अच्छा-खासा बुर्जुआ वर्ग पैदा हो गया था—पार्टी और सरकारी नौकरशाही तथा उद्यमों के प्रबन्धक वर्ग से। इस वर्ग की अब यह इच्छा थी कि राजकीय पूंजीवाद को खुले पूंजीवाद में तब्दील कर दिया जाय। "पेरेस्त्रोइका" और "ग्लासनोस्त" इसी को क्रमशः अंजाम देने वाली कार्यनीतियां थीं तथा इनका प्रस्तोता गोर्बाचोव, इस नये वर्ग का नुमाइंदा। लेकिन राजकीय पूंजीवाद की सड़ांध इतनी ज्यादा थी कि क्रमशः की नीति कामयाब नहीं हो पायी और येल्तसिन जैसे ताबड़-तोड़ नीति वाले नेता पैदा हो गये। अपने वर्ग चरित्र और उद्देश्य में गोर्बाचोव व येल्तसिन में कोई फर्क नहीं था। फर्क केवल गति का था।

यह सब एकदम साफ है। जो कोई भी माओ विचारधारा पर दृढ़ता से खड़ा था, उसके लिए 1989 की घटनाएं अप्रत्याशित तो थीं लेकिन ऐसी नहीं कि उनके सामने किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाय और उन्हें समझ न सके। उसके सामने कोई विभ्रम पैदा नहीं हुआ। उसके लिए तो वह महज पूंजीवाद के एक रूप—राजकीय पूंजीवाद—का संकट था जिसका समाधान निजी और खुले पूंजीवाद में हो रहा था। यह किसी भी तरह समाजवाद का संकट नहीं था।

लेकिन सी.पी.आई., सी.पी.एम. समेत लिबरेशन संशोधनवादियों की स्थिति बिल्कुल भिन्न थी। खासकर, लिबरेशन के लिए क्योंकि उसने अभी हाल ही में उन्हें समाजवादी कहना शुरू किया था। अब वह इस पतन की कैसे व्याख्या करता? सो उसने मामले को गोल-माल कर काम चलाया। सोवियत संघ के बारे अतिमहाशक्ति का पुछल्ला लगा दिया तो पूर्वी यूरोप के देशों के बारे में एकदम चुप्पी साध गये। इस मामले में उन्होंने जो कुछ भी कहा, उसके सार को ऊपर उद्धृत किया जा चुका है जिससे साफ जाहिर है कि कुछ भी स्पष्ट नहीं होता।

संशोधनवादी परले दरजे के कायर होते हैं। वे अपनी गलतियों को खुद स्वीकार करने के बदले उसमें दूसरे लोगों को भी लपेटने का प्रयास करते हैं। उपरोक्त उदाहरणों में से एक में उन्होंने इसी नीति का परिचय देते हुए लेनिन को भी समाजवाद की पराजय के सवाल पर लपेटा है। यहां यह कतई स्पष्ट नहीं है कि लेनिन का नाम क्यों लिया गया है। क्या लिबरेशन यह साबित करना चाहता है कि लेनिन उसी की तरह समाजवाद की अपराजेयता में विश्वास करते थे? यदि ऐसा है, तो यह बात गलत है। लेनिन ऐसा कतई नहीं सोचते थे। बल्कि उनकी सोच उल्टी थी और उन्हीं सूत्रों को पकड़कर माओ ने सांस्कृतिक क्रांति की अपनी अवधारणा प्रस्तुत की। इससे संबंधित वक्तव्यों को **महान बहस** में तथा सांस्कृतिक क्रांति के दौरान बार-बार उद्धृत भी किया गया। अतः यहां लेनिन का नाम लेना कुटिल मंशा के अलावा कुछ नहीं हो सकता।

दूसरा, यदि समाजवाद के विपर्यय के सवाल पर किसी का नाम लेना ही था तो लिबरेशन को माओ का नाम क्यों नहीं याद आया? यह माओ ही तो हैं जिनका विश्लेषण सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप की घटनाओं की सबसे अच्छी तरह व्याख्या करता है और

जिस पर दृढ़तापूर्वक खड़े रहकर दुनिया के सभी मार्क्सवादी-लेनिनवादी जरा भी विचलित या दिग्भ्रमित नहीं हुए जबकि अन्य सारे संशोधनवादी और सामाजिक-जनवादी ध्वस्त हो गये। अपने को माओ विचारधारा का अनुयायी मानने वाले लिबरेशन को माओ के इस खजाने से क्यों डर लग रहा था? क्यों उसके पास जाने से उसे बिजली के करंट जैसा डर लग रहा था? क्यों वह यह न कर उन सी.पी.आई. और सी.पी.एम. जैसा विश्लेषण करने लगा जो माओ विचारधारा को मानने से साफ मना करते है? क्या इन सबके बाद भी किसी को यह कहने की जुर्रत होगी कि लिबरेशन माओ विचारधारा को मानता है और वह संशोधनवादी नहीं हो गया है?

मजे की बात यह है कि एक टिपिकल संशोधनवादी की तरह व्यवहार करते हुए उसने चौथी कांग्रेस में प्रस्तुत अपने इस सिद्धान्त की चर्चा भी नहीं की कि समाजवाद की पराजय नहीं हो सकती। एक चोर की तरह वह उस जगह से बचता रहा, जहां उसने चोरी की थी। अपने अतीत से हिसाब चुकता न करना संशोधनवादियों का बहुत पुराना चरित्र रहा है। वे अपनी पुरानी प्रस्थापनाओं को बस चुपचाप छोड़ देते हैं, उससे हिसाब चुकता नहीं करते क्योंकि यह करने के लिए जिस क्रांतिकारी ईमानदारी और साहस की जरूरत होती है उसका इनमें सख्त अभाव होता है।

न केवल उन्होंने सोवियत संघ के पतन के बारे में गोलमाल किया बल्कि अपने विचारधारात्मक प्रस्ताव में उन्होंने चलते-चलते स्टालिन को भी दो लातें लगा दीं :

> "2. सीपीआई (एम एल) सोवियत संघ में समाजवाद के निर्माण में फासिस्ट आक्रमण के खिलाफ सोवियत संघ की रक्षा में कामरेड स्टालिन द्वारा निभाई गई महत्वपूर्ण भूमिका को स्वीकार करती है।
>
> "तथापि, स्टालिन अच्छी-खासी मात्रा में अधिभूतवाद के शिकार थे और यही उनकी अत्यंत गंभीर गलतियों का मुख्य स्रोत था। उनके दौर में, अन्तः पार्टी जनवाद के साथ-साथ समाज में समाजवादी जनवाद भी भारी विकृतियों से ग्रस्त था।"
>
> (वही, पृष्ठ 5)

1992 के समय जब सारी दुनिया में पूंजीपति वर्ग की तरफ से स्टालिन को गालियां दी जा रही हों, जब पूंजीवादी तंत्र उन्हें हिटलर के समान्तर सिद्ध करने का चौतरफा प्रयास कर रहा हो, तब स्टालिन के बारे इस नकारात्मक प्रस्ताव का क्या मतलब होता है? क्या यह "बुर्जुआ निष्पक्षतावाद" नहीं है? यह वक्त दृढ़तापूर्वक स्टालिन को डिफेण्ड करने का है, या उनकी गलतियां गिनाने का? ये गलतियां गिनाकर आखिर लिबरेशन क्या चाहता है—सिवाय इसके कि बुर्जुआ की नजरों में उसकी स्वीकार्यता थोड़ी ओर बढ़ जाय?

महान बहस और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति के मामले में विचारधारात्मक प्रस्ताव (और वास्तव में समूची पांचवीं कांग्रेस, क्योंकि इनके बारे में अन्यत्र कुछ नहीं कहा गया है) यह कहता है :

> "3. सीपीआई (एम एल) आधुनिक संशोधनवाद के खिलाफ 1960 के दशक के शुरूआती वर्षों में माओ त्से तुंड़ एवं चीन की कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा चलाए गये संघर्ष को सही मानती है।
>
> "समाजवादी समाज में वर्ग संघर्ष का अस्तित्व और कम्युनिस्ट पार्टी के अन्दर उसका

> प्रतिबिम्बित होना, पूंजीवादी पुनर्स्थापना का खतरा और आज तक समाजवाद और पूंजीवाद के बीच संघर्ष में हार-जीत का फैसला न हो पाना इत्यादि विषयों पर कामरेड माओ की थीसिस इतिहास द्वारा सही साबित हुई है। इस प्रकार स्तालिनवादी अधिभूतवाद और ख्रुश्चेवी संशोधनवाद, दोनों के निषेधस्वरूप माओ विचारधारा विकसित हुई और उसने मार्क्सवाद-लेनिनवाद को एक बार फिर सही परिप्रेक्ष्य में रखा।
>
> "माओ के संघर्ष का भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन पर गहरा प्रभाव पड़ा। आधुनिक संशोधनवाद के तमाम भारतीय रूपों के खिलाफ संघर्ष के दौरान हमारी मार्क्सवादी-लेनिनवादी पार्टी का उदय काफी हद तक इसी माओ विचारधारा की देन है।"
>
> (वही, पृष्ठ 5)

उपरोक्त वक्तव्य की विशेषता यह है कि यह ऊपरी तौर पर माओ विचारधारा को सही तौर पर प्रस्तुत करती हुई भी उसकी आत्मा को गायब कर देती है और यही संशोधनवाद की मूल पद्धति है। वे क्रांतिकारियों की तरह बातें करते हुए क्रांति की मूल बात को गोल कर देते हैं।

उपरोक्त वक्तव्य में ही नहीं, पूरे विचारधारात्मक प्रस्ताव में बल्कि समूचे पार्टी कांग्रेस के दस्तावेजों में, कहीं भी सर्वहारा की तानाशाही की चर्चा नहीं है। आप समाजवादी समाज में चलने वाले वर्ग संघर्ष की बात करें, पूंजीवादी पुनर्स्थापना के बारे की बात करें और सर्वहारा की तानाशाही की बात न करें, यह क्या दर्शाता है? इसके बदले समाजवादी समाज में जनवाद न होने की बार-बार चर्चा है। क्या यह सीधे-सीधे बुर्जुआ जनवाद के मिथक के सामने समर्पण नहीं है? सर्वहारा की तानाशाही से किसे डर है? क्या सर्वहारा को? नहीं! क्या बुर्जुआ को? हां! तो सर्वहारा तानाशाही का जिक्र करने से डरना और जनवाद-जनवाद चिल्लाना, बुर्जुआ को खुश करना नहीं है?

इसी तरह समाजवादी समाज में वर्ग-संघर्ष की उपस्थिति और पूंजीवादी पुनर्स्थापना के खतरे की चर्चा करते हुए भी वे इससे बचाव के लिए प्रस्तुत की गई सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति की जरा भी चर्चा नहीं करते। यहां तक कि उसका नाम भी नहीं लेते। न तो यहां और न दस्तावेजों में कहीं और! क्या ऐसे में कहा जा सकता है कि वे सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति को अपहोल्ड करते हैं? कतई नहीं। यह संशोधनवादियों की चुप्पी है, जिसका मतलब है, वे उसे अपहोल्ड नहीं करते।

तब फिर चौथी कांग्रेस में समाजवाद की अपराजेयता घोषित करने के बाद वे पूंजीवाद की पुनर्स्थापना के खतरे की बात पांचवीं कांग्रेस में क्यों करने लगे? क्योंकि इस बीच पूर्वी यूरोप व सोवियत संघ की घटनाएं गुजर चुकी हैं। वे ऐतिहासिक तथ्य बन चुकी हैं और उनकी खुद की चौथी कांग्रेस की प्रस्थापना को झुठलाकर। पूंजीवादी पुनर्स्थापना के खतरे की बात कहना चुपके से अपनी पोजीशन ठीक करने की कोशिश है। लेकिन इनकी पुनर्स्थापना की थीसिस और माओ की थीसिस में जमीन-आसमान का फर्क है। माओ की पुनर्स्थापना की थीसिस के अनुसार सोवियत संघ व पूर्वी यूरोप में पूंजीवाद की पुनर्स्थापना ख्रुश्चेव के काल में हो चुकी थी। वह 1989 या 1992 में नहीं हुई। यही नहीं माओ की थीसिस के अनुसार चीन में डेंगपंथियों के सत्तारूढ़ होने के साथ ही वहां पूंजीवादी पुनर्स्थापना हो गई जबकि लिबरेशन के अनुसार वह अभी भी समाजवादी है। क्या इसे देखते हुए कोई

कह सकता है कि माओ व लिबरेशन एक ही बात कह रहे हैं? या कि लिबरेशन माओ विचारधारा को अपहोल्ड कर रहा है?

तब फिर लिबरेशन माओ विचारधारा को मानने की बात क्यों कर रहा है? मामला साफ है। आज यदि कोई व्यक्ति या संगठन क्रांतिकारी अवस्थिति को छोड़कर संशोधनवादी होता है तो उसे मजबूरन माओ विचारधारा को मानने की बात करनी पड़ेगी। आज का मार्क्सवाद, मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओ विचारधारा है। ऐसे में यदि कोई माओ विचारधारा मानने की बात छोड़ देता है तो उसका तुरंत भंडाफोड़ हो जाएगा। और संशोधनवादी अपना भंडाफोड़ होने से डरता है। वह सही विचारधारा का नकाब ओढ़कर गलत विचारधारा पर चलता है। वह लाल झंडा लहराते हुए लाल झंडे का विरोध करता है। वह जानता है कि साफ-साफ सामने आते ही लोग उसे लात मार कर किनारे लगा देंगे। अतः वह सही विचारधारा की नामपट्टिका लगाये रहता है। वह असली दवा के लेबल के साथ अपनी नकली दवा बेचता रहता है।

इतिहास में हमेशा ऐसा ही होता रहा है। द्वितीय इंटरनेशनल के जमाने में जब मार्क्सवाद अभी केवल मार्क्सवाद ही था, तब बर्नस्टीन और कानार्ड स्मिट जैसे लोगों ने मार्क्सवाद का लेबल लगाकर संशोधनवाद किया। जब मार्क्सवाद विकसित होकर मार्क्सवाद-लेनिनवाद तक पहुंच गया तब टीटो व ख्रुश्चेव व सी.पी.आई. तथा सी.पी.एम. जैसों ने मार्क्सवाद-लेनिनवाद का लेबल लगाकर संशोधनवाद किया। अब जबकि मार्क्सवाद-लेनिनवाद में माओ विचारधारा भी जुड़ गई तब इसमें संशोधनवाद, मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओ विचारधारा का लेबल लगाकर ही किया जा सकता है। अन्यथा नहीं। अब तरीका यह होगा कि संशोधनवादी संगठन माओ विचारधारा का नाम लेकर उसके सबसे महत्वपूर्ण पहलू—सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति की या तो उपेक्षा कर देगा, या उसे प्रकारान्तर से नकार देगा या उसे प्रत्यक्षतः विफल घोषित कर देगा। वह उसके निष्कर्षों को झुठलाएगा और "ठोस परिस्थितियों का ठोस विश्लेषण" करने के नाम पर अपने बिल्कुल विरोधी निष्कर्षों को पेश करेगा। सोवियत संघ व चीन के बारे में तथा सभी संशोधनवादियों के चरित्र-चित्रण के बारे में लिबरेशन अब यही कर रहा है। सभी संशोधनवादियों की तरह वह यदि-किन्तु-परन्तु लगाकर "पहले के गलत निष्कर्षों" को ठीक कर रहा है या मार्क्सवाद का "सृजनात्मक विकास" कर रहा है।

जहां तक चीन का मामला है, लिबरेशन इस कांग्रेस में डेंग स्याओ पिंग पर घोर चुप्पी साधे हुए चीनी "समाजवाद" के अपने पुराने समर्थन को दुहराता है। हालांकि **विचारधारात्मक प्रस्ताव** में वह चीनी "समाजवाद" के बारे में कुछ नहीं कहता परन्तु राजनीतिक सांगठनिक रिपोर्ट में वह खुलेआम अपना समर्थन जाहिर करता है।

> "हम चीनी विशेषताओं से युक्त समाजवाद का निर्माण करने की चीन की कम्युनिस्ट पार्टी व चीनी जनता के प्रयासों का समर्थन करते हैं। हाल में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने अपनी चौदहवीं कांगेस सफलतापूर्वक संपन्न की है जिसमें समाजवाद के निर्माण के संबंध में पूरी तरह पार्टी की आठवीं कांग्रेस की लाइन को ही दुबारा रखा गया है। **सोवियत के पतन के बाद समाजवाद के संकट का सैद्धान्तिक रूप से समाधान करने की कोशिश में चीनी**

कामरेडों ने एक ऐसी धारणा पेश की है जिसे वे बाजार अर्थतंत्र कहते हैं। हम उनके सैद्धान्तिक प्रेक्षणों और व्यावहारिक प्रयोग का बारीकी से अध्ययन कर रहे हैं जबकि हम वहां निचले स्तर पर चेयरमैन माओ की नये सिरे से बढ़ती लोकप्रियता को भी लक्ष्य कर रहे हैं जो जनता द्वारा 50 के दशक और 60 के दशक के शुरूआती वर्षों की ओर लौटने की चाहत का प्रतीक है।"

(राजनीतिक सांगठनिक रिपोर्ट, पृष्ठ 15. जोर हमारा)

क्या उपरोक्त वक्तव्य के बाद भी कोई कह सकता है कि लिबरेशन **महान बहस**, सांस्कृतिक क्रांति और माओ विचारधारा को अपहोल्ड करता है? सोवियत संघ के पतन के जवाब में चीन के संशोधनवादियों ने अपने बाजार समाजवाद की अवधारणा पेश की और लिबरेशन है कि इसका "बारीकी से अध्ययन कर" रहा है ! क्या मार्क्स का फिर से आविष्कार करना पड़ेगा? क्या **पूंजी** फिर से लिखनी पड़ेगी, यह साबित करने के लिए कि बाजार और समाजवाद एक-दूसरे को अपवर्जित करने वाले प्रत्यय हैं, कि एक जितना खत्म होगा, दूसरा उतना ही बढ़ेगा, कि बाजार समाजवाद "कन्ट्रेडिक्शन इन टर्म्स" है, कि बाजार पूंजीवाद की चालक शक्ति है और समाजवाद की चालक शक्ति है योजना, कि दोनों एक साथ फल-फूल नहीं सकते। आखिर चीनी संशोधनवादियों के समर्थन में कितनी बेहयाई तक उतरेगा लिबरेशन ! मार्क्सवादी अर्थशास्त्र के जिन प्राथमिक सिद्धान्तों को एक साधारण कम्युनिस्ट भी जानता है, उनका उल्लंघन होने पर लिबरेशन की कांग्रेस उसका "बारीकी से अध्ययन" करने की बात करती है! यदि अध्ययन ही करना है तो उसी **महान बहस** को एक बार फिर क्यों नहीं पढ़ जाते जिसे आप अपहोल्ड करने का दावा करते हैं और जिसमें यूगोस्लाविया और फिर सोवियत संघ के संदर्भ में इसकी विस्तारपूर्वक चर्चा है, आम सैद्धान्तिक प्रस्थापनाओं की बात ही छोड़ दें। सांस्कृतिक क्रांति के दौर में किन आर्थिक चीजों के खिलाफ जिहाद छेड़ा गया था? क्या उसमें बाजार और मूल्य के नियम को ज्यादा से ज्यादा सीमित करने की बात नहीं थी? क्या ल्यू शाओ ची और डेंग स्याओ पिंग जैसे पूंजीवादी पथगामी ठीक इसकी उल्टी बात यानि बाजार और मूल्य के नियम को छूट देने की बात नहीं कर रहे थे और क्या डेंग गुट ने चीन में सत्तारूढ़ होने के बाद ठीक यही काम नहीं किया? और आप जैसे बेहया हैं कि अभी इसका "बारीकी से अध्ययन" करने की बात कर रहे हैं। और यह सब चीनी संशोधनवादियों की तरह माओ विचारधारा के नाम पर हो रहा है!

यही बेहयाई और चालाकी आगे भी नजर आती है। लिबरेशन चीन में माओ की नये सिरे से बढ़ती लोकप्रियता को "50 के दशक और 60 के दशक के शुरूआती वर्षों की ओर लौटने की चाहत" का प्रतीक घोषित करता है। तथ्य यह है कि चीन में माओ की लोकप्रियता सांस्कृतिक क्रांति के दौरान सर्वोच्च थी। वे उस समय जितने लोकप्रिय थे, उतने पहले कभी नहीं। और वह तब, जब कई सारे पार्टी नेता पूंजीवादी पथगामियों की तरह चिन्हित होकर (ल्यू शाओ ची व डेंग स्याओ पिंग आदि) धूल-धूसरित हो चुके थे। ऐसे में माओ की लोकप्रियता को '50 के दशक और '60 के दशक के शुरूआती वर्षों की ओर लौटने की चाहत का प्रतीक क्यों माना जाय? उसे '60 के दशक के उत्तरार्द्ध और '70 के दशक के पूर्वार्द्ध की ओर यानि सांस्कृतिक क्रांति के काल की ओर लौटने का प्रतीक क्यों न माना जाय? यह तार्किक भी है क्योंकि उस समय चीनी जनता को जितने प्रशासनिक से लेकर अन्य जनवादी अधिकार मिले थे, उतने कभी नहीं मिले। यह वह काल था जब खुद कम्युनिस्ट पार्टी की घोषणा के अनुसार जनता सर्वोपरि थी—पार्टी व सरकार से भी ऊपर। जब जनता ने वास्तव में इस अधिकार का उपयोग भी किया। डेंग स्याओ पिंग को यूं ही नहीं कालिख पोत कर सड़कों पर घुमाया गया। चीनी समाज में समानता इसी काल में सबसे ज्यादा थी। फिर जनता इस काल में क्यों नहीं लौटना चाहेगी? क्यों वह इसके पहले के काल में लौटना चाहेगी? यह लिबरेशन के मन में सांस्कृतिक क्रांति के प्रति जो वैमनस्य का भाव है, क्या उसी की अभिव्यक्ति नहीं है? क्या इससे यह नहीं साबित होता कि वह बस भंडाफोड़ होने के डर के मारे चीनी डेंगपंथियों की तरह सांस्कृतिक क्रांति को "महान विपदा" घोषित नहीं करता?

आइये आगे चलें। लिबरेशन का संशोधनवाद एक और सवाल पर भी मुकम्मिल हो जाता है—पांचवीं कांग्रेस तक। चौथी कांग्रेस तक वह हिंसात्मक क्रांति और सशस्त्र संघर्ष की बात करता है लेकिन पांचवीं कांग्रेस तक आते-आते वह शांतिपूर्ण संक्रमण को एक संभावना के बतौर अपने कार्यक्रम में दर्ज कर लेता है। यही नहीं अपने कार्यक्रम में "क्रांति का रास्ता" को पूरा का पूरा पुनर्सूत्रित कर संसदीय रास्ते के अनुकूल बना देता है। "क्रांति का रास्ता" में अब वह ज्यादातर चुनाव लड़ने और स्थानीय तथा प्रादेशिक स्तर पर सरकार बनाने के बारे में बातें करता है जबकि गैर संसदीय और गैर कानूनी कार्यों के बारे में केवल दो छोटे-छोटे पैराग्राफों में औपचारिक सूत्रों के रूप में कुछ बातें कह देता है जो अपनी अंतर्वस्तु में सी.पी.आई. या सी.पी.एम. के इसी बात पर सूत्रीकरण से कहीं भिन्न नहीं हैं।

"क्रांतिकारी रास्ता

"भारत जैसे एक बड़े और जटिल देश में जनता की जनवादी क्रांति को पूरा करने के लिए कम्युनिस्ट पार्टी को संघर्ष के विविध रूपों और काम के सभी संभव उपायों पर महारत हासिल करने में और उन्हें एक-दूसरे के साथ जोड़ने में विशेष रूप से कुशल होना चाहिए। लिहाजा, पार्टी संघर्ष व संगठन के गैरकानूनी और कानूनी, गुप्त व खुले और गैर संसदीय व संसदीय रूपों को आंगिक तौर पर जोड़ने व एक सुसंगत क्रांतिकारी व्यवहार विकसित करने का प्रयास करती है।

"यह सच है कि सामान्य परिस्थितियों में भारतीय राजनीति कम्युनिस्टों को खुले, कानूनी और संसदीय तरीकों से कार्य करने की इजाजत देती है। यह संभव है कि कम्युनिस्ट विभिन्न स्तरों में चुनावों में जीत हासिल कर लें तथा स्थानीय निकायों और यहां तक कि राज्य विधायिका में भी बहुमत हासिल कर लें। दीर्घकालीन और जोशीले राजनीतिक संघर्षों के जरिए वर्गीय संतुलन को अपने पक्ष में झुका करके पार्टी स्वतंत्र रूप से अथवा समान विचारधारा वाली शक्तियों के साथ संश्रय कायम करके ऐसे अवसरों का इस्तेमाल करने के लिए तैयार है, बशर्ते कि पार्टी के पास अपने मतदाताओं के साथ किए गये वायदों को पूरा करने की शक्ति हो।

"पार्टी इस संभावना से भी इंकार नहीं करती कि किन्हीं असाधारण राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में सामाजिक व राजनीतिक शक्ति संतुलन क्रान्तिकारी शक्तियों के हाथों केन्द्रीय सत्ता के अपेक्षाकृत शांतिपूर्ण संक्रमण को भी इजाजत दे सकता है। लेकिन एक ऐसे देश में जहां जनवादी संस्थाएं मूलतः कमजोर और संकीर्ण बुनियादों पर टिकी हुई हैं और छोटी-छोटी जीतें और आंशिक सुधार भी केवल जनता के जुझारू संघर्षों की बदौलत ही हासिल किए और सुरक्षित रखे जा सकते हैं, वहां सर्वहारा की

पार्टी को सशस्त्र क्रान्ति के जरिए अंतिम विजय प्राप्त करने के लिए अपने को तैयार करना चाहिए। लिहाजा पार्टी के शस्त्रागार में क्रान्ति के दो सर्वाधिक बुनियादी हथियार—जनता का जनवादी मोर्चा व जनसेना बने रहेंगे।"

(सामान्य कार्यक्रम, पृष्ठ 11-12, जोर हमारा)

अब इस "क्रान्ति के रास्ते" की तुलना तीसरी कांग्रेस व यहां तक कि चौथी कांग्रेस से करके देखिए, फर्क साफ नजर आएगा। अब किसानों का प्रतिरोध संघर्ष, छापामार युद्ध और आधार इलाका गायब हो गये हैं तथा उसकी जगह चुनाव व स्थानीय व प्रादेशिक, यहां तक कि केन्द्रीय सरकार आ गये हैं। और यह तब, जब कि लिबरेशन द्वारा भारतीय समाज के मूल्यांकन में इस दौरान कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं आया है। वह पहले की तरह अब भी भारतीय समाज को अर्द्ध-सामंती, अर्द्ध-औपनिवेशिक मानता है तथा भारतीय क्रान्ति की मंजिल को नयी जनवादी क्रान्ति की मंजिल घोषित करता है। फिर "क्रान्ति के रास्ते" में यह परिवर्तन क्यों? क्या इसका एकमात्र कारण संशोधनवाद नहीं है?

वास्तव में इसका संशोधनवाद सबसे ज्यादा शांतिपूर्ण संक्रमण की संभावना खोजने में दीखता है। **महान बहस** के दौरान माओ के नेतृत्व वाली चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने साफ घोषित और स्थापित किया था कि मौजूदा दौर में शांतिपूर्ण संक्रमण की कोई भी संभावना खोजना संशोधनवाद है।

"अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन के इतिहास में, मार्क्सवाद के प्रति और सर्वहारा वर्ग के प्रति संशोधनवादियों की गद्दारी हमेशा हिंसात्मक क्रान्ति और सर्वहारा अधिनायकत्व के विरोध तथा पूंजीवाद से समाजवाद में शांतिपूर्ण संक्रमण की पैरवी के रूप में अत्यंत तीव्रता के साथ प्रकट हुई है।"

(महान बहस, अंतर्राष्ट्रीय प्रकाशन, 1998, पृष्ठ 278)

"पूंजीवादी संसदों के प्रति सही रुख अपनाने के संबंध में मार्क्सवादी-लेनिनवादियों और अवसरवादियों-संशोधनवादियों के बीच हमेशा से बुनियादी मतभेद रहा है।"

(वही, पृष्ठ 302)

"चीन से लेकर क्यूबा तक, इन सभी क्रान्तियों ने, बिना किसी अपवाद के, सशस्त्र संघर्ष के जरिए तथा साम्राज्यवाद के खिलाफ सशस्त्र आक्रमण व हस्तक्षेप का मुकाबला करके विजय प्राप्त की है।"

(वही, पृष्ठ 310)

"हिंसात्मक क्रान्ति सर्वहारा क्रान्ति का एक सर्वव्यापी नियम है। समाजवाद में संक्रमण करने के लिए सर्वहारा वर्ग को सशस्त्र संघर्ष करना चाहिए। पुरानी राज्य मशीनरी को चकनाचूर कर देना चाहिए और सर्वहारा अधिनायकत्व की स्थापना करनी चाहिए।"

(वही, पृष्ठ 310)

"पूंजीवादी देशों में संशोधनवादी धारा का विकास सबसे पहले इस तथ्य के रूप में प्रकट हुआ कि कुछ कम्युनिस्ट पार्टियों के नेताओं ने क्रान्तिकारी मार्क्सवादी-लेनिनवादी दिशा का परित्याग कर दिया तथा 'शांतिपूर्ण संक्रमण' की दिशा अपना ली।"

(वही, पृष्ठ 315)

"सर्वहारा अधिनायकत्व का समूचा इतिहास हमें यह बताता है कि पूंजीवाद से समाजवाद में शांतिपूर्ण संक्रमण करना असंभव है।"

(वही, पृष्ठ 318)

इनके अलावा महान बहस की आठवीं टिप्पणी—**सर्वहारा क्रान्ति और ख्रुश्चेव का संशोधनवाद** में 'कुतर्कवाद से इतिहास नहीं बदल सकता' शीर्षक में यह स्थापित किया गया है कि जो लोग भी 'शांतिपूर्ण संक्रमण' की किसी संभावना को सिद्ध करने के लिए मार्क्स व लेनिन का सहारा लेते है (कि उन्होंने भी ऐसी संभावना की बात की थी), वे महज कुतर्क करते हैं और इनके बारे में टिप्पणी का समापन इन शब्दों में किया गया है :

"लेनिन ने कहा था, 'काउत्स्की ने ऐसी वाक्चातुरी, कुतर्कवाद और धोखाधड़ी का सहारा केवल इसलिए लिया था ताकि हिंसात्मक क्रान्ति से नाता तोड़ा जा सके, उदारवादी श्रम नीति के, यानि पूंजीपति वर्ग, पक्ष में पलायन करने की बात को छिपाया जा सके।' और लेनिन ने आगे कहा, 'यही तो सारी मुसीबतों की जड़ है।'

"ख्रुश्चेव ने भला मार्क्स और एंगेल्स की रचनाओं को इतनी बेहयाई के साथ क्यों तोड़ा-मरोड़ा है, इतिहास को अपनी मर्जी के मुताबिक क्यों गढ़ डाला है तथा वाक्चातुरी का सहारा क्यों लिया है? आखिर यही तो सारी मुसीबतों की जड़ है।"

(वही, पृष्ठ 295)

अब हम लिबरेशन के बारे में क्या कहें जो इतनी सफाई से 'शांतिपूर्ण संक्रमण' की बात करता है। निश्चय ही उस पर वे सारी विशेषताएं लागू होती हैं जो उपरोक्त उद्हरणों में काउत्स्की और ख्रुश्चेव के लिए प्रयोग की गई हैं। 'शांतिपूर्ण संक्रमण' के सवाल पर **महान बहस** की इतनी सारी बातों के बाद भी लिबरेशन की उपरोक्त अवस्थिति केवल और केवल संशोधनवाद है। संशोधनवादी हो जाने के बाद वह लाख कोशिश करके भी इससे बच नहीं सकता था। देर-सबेर उसे 'शांतिपूर्ण संक्रमण' की संभावना तलाशनी ही थी। सो उसने पांचवीं कांग्रेस आते-आते यह संभावना तलाश ली।

इसके बावजूद वह चाहता है कि लोग यह मानें कि वह **महान बहस** को अपहोल्ड करता है (देखें विचारधारात्मक प्रस्ताव नं. 3)। यह एक बार फिर यही दिखाता है कि संशोधनवादी किस तरह आचरण करता है—वह औपचारिक तौर पर किसी बात को अपहोल्ड करता है, लेकिन वास्तव में, वह उसकी मूल प्रस्थापनाओं को या तो बदल देता है या फिर चुपचाप छोड़ देता है। वह लगातार कायरता का प्रदर्शन करता रहता है।

अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन के केन्द्र के सवाल पर लिबरेशन ने पांचवीं कांग्रेस में मूलतः तीसरी व चौथी कांग्रेस की ही प्रस्थापना दुहराई :

"5. सीपीआई (एम एल) किसी भी अंतर्राष्ट्रीय केन्द्र अथवा बड़ी पार्टी की धारणा का दृढ़तापूर्वक विरोध करती है। अंतर्राष्ट्रीय मामलों में वह अंतर्राष्ट्रीय स्थिति के खुद के मूल्यांकन पर आधारित स्वतंत्र नीति पर अमल करने में यकीन करती है।"

(वही, पृष्ठ 6)

जहां तक "तीन दुनिया का सिद्धान्त" का सवाल है, पांचवीं कांग्रेस में इस टर्म का इस्तेमाल गायब है। हां, कुछ सूत्रीकरण जरूर ऐसे किये गये हैं जो उसके पुराने तीन दुनिया के सिद्धान्त से मिलते-जुलते हैं :

"मौजूदा ऐतिहासिक दौर में, साम्राज्यवाद और तीसरी दुनिया के बीच का अंतर्विरोध ही प्रधान या केन्द्रीय अंतर्विरोध बना हुआ है।"

(राजनीतिक सांगठनिक रिपोर्ट, पृष्ठ 13)

एक महत्वपूर्ण विकास पांचवीं कांग्रेस तक आते आते यह हुआ है कि लिबरेशन ने भारतीय संशोधनवादी पार्टियों व अन्य पार्टियों के प्रति रुख में एक गुणात्मक छलांग लगाई है। इसकी

सबसे तीखी अभिव्यक्ति "वाम महासंघ" के निर्माण और सभी कम्युनिस्टों के एकीकरण के इसके प्रयास में है।

चौथी कांग्रेस तक इसने सी.पी.आई. व सी.पी.एम. को केवल वामपंथी कहना शुरू किया था और अब वह गुणात्मक तौर पर आगे बढ़कर उन्हें कम्युनिस्ट कहने लगी है। निश्चय ही संशोधनवादियों के चरित्र के अनुरूप उसने यह खुलकर नहीं कहा है लेकिन जो कुछ लिबरेशन कह रहा है, उसका केवल यही मतलब निकलता है।

चौथी पार्टी कांग्रेस में स्वीकृत कार्यक्रम में यह कहा गया था :

"वह सभी देशों की सच्ची मार्क्सवादी-लेनिनवादी पार्टियों तथा संगठनों के साथ दृढ़तापूर्वक एकताबद्ध होती है।"

(पृष्ठ 2.2.1)

लेकिन पांचवीं पार्टी कांग्रेस में स्वीकृत कार्यक्रम कहता है :

"यह विश्व के विभिन्न हिस्सों की तमाम क्रांतिकारी कम्युनिस्ट, सोशलिस्ट और मजदूर पार्टियों व संगठनों के साथ एकता स्थापित करना चाहती है।"

(पृष्ठ 7)

एक ही उद्देश्य को घोषित करने वाले वक्तव्यों में पार्टियों के चरित्र में क्यों फर्क आ गया? पहले केवल "सच्चे मार्क्सवादी-लेनिनवादी" थे, अब "क्रांतिकारी कम्युनिस्ट, सोशलिस्ट और मजदूर पार्टियां" कैसे हो गये? क्या दोनों एक ही हैं? दोनों एक ही हैं, तो परिवर्तन क्यों किया गया? निश्चय ही सोशलिस्ट वह नहीं हो सकता जो मार्क्सवादी-लेनिनवादी होता है। फिर? उसके साथ एकता कैसे हो सकती है? क्या यह एकता केवल अवसरवादी एकता नहीं होगी?

इसी तरह पांचवीं पार्टी कांग्रेस में "वाम महासंघ" के नारे को देश के सभी कम्युनिस्टों के एकीकरण का रास्ता कहा गया है :

"...पार्टी कांग्रेस ने एक ढीले-ढाले व्यापक आधारों वाले वाम महासंघ का निर्माण करने के सी.पी.आई. (एम एल) के मशहूर प्रस्ताव को न केवल फिर दृढ़तापूर्वक दोहराया, बल्कि इस शताब्दी के अंत तक भारतीय कम्युनिस्टों को एक ही एकताबद्ध पार्टी का लक्ष्य हासिल करने का स्वप्न भी सामने रखा।"

(राजनीतिक सांगठनिक रिपोर्ट, पृष्ठ 4)

"हम दुहराना चाहेंगे कि हमारे लिए एक वाम महासंघ कोई अस्थाई परिणामवादी कार्यवाही नहीं है, बल्कि एक एकल कम्युनिस्ट पार्टी के झंडे तले भारत के तमाम कम्युनिस्टों को एकताबद्ध करने के हमारे बुनियादी मिशन को पूरा करने की ओर एक मील का पत्थर है।"

(वही, पृष्ठ 39)

देश के तमाम कम्युनिस्टों को एक ही झंडे तले इकट्ठा करा बड़ी अच्छी बात है। लेकिन आप एक झंडे तले कम्युनिस्टों को इकट्ठा करना चाहते हैं कि संशोधनवादियों को? आप की नजर में सी.पी.आई. व सी.पी.एम. क्या हैं, कम्युनिस्ट या संशोधनवादी? यदि वे कम्युनिस्ट हैं तो आप की बात ठीक है और तब फिर हम कहेंगे कि आप भी उन्हीं की तरह के संशोधनवादी हैं और आपमें व उनमें कोई फर्क नहीं है। यदि वे संशोधनवादी हैं तो फिर आप उनको कम्युनिस्ट घोषित करके क्या हासिल करना चाहते हैं—सिवाय जनता में विभ्रम फैलाने के! यानि दोनों ही मामलों में आप संशोधनवादी साबित होते हैं क्योंकि एक संशोधनवादी ही क्रांतिकारियों व संशोधनवादियों के बीच के फर्क को धुंधला करता है। केवल वही भांति-भांति के लोगों को एक

ही झंडे तले कम्युनिस्ट के नाम पर इकट्ठा करने की बात करता है। बल्कि इस मामले में तो सी.पी.एम. संशोधनवादी आप से अच्छे हैं क्योंकि वे आज भी सी.पी.आई. संशोधनवादियों से एकता की बात यह कहकर रद्द कर देते हैं कि वह वर्ग सहयोगवादी और संशोधनवादी है।

सी.पी.आई. व सी.पी.एम. को सीधे-सीधे संशोधनवादी कहने के बदले वामपंथी जैसे शब्द से विभूषित करना, उन्हें लेकर वाम महासंघ का निर्माण करना, जिसका उद्देश्य हो सभी कम्युनिस्टों को एक पार्टी में संगठित करना और इन सब कार्यवाहियों के माध्यम से क्रांतिकारियों और संशोधनवादियों के बीच के फर्क को धूमिल कर देना और इस तरह जनता में भ्रम पैदा करना, यह सब लिबरेशन के संशोधनवादी चरित्र का ही परिणाम है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, एक संशोधनवादी ही विभाजक रेखाओं को धुंधला करता है।

यही बात नेपाली कम्युनिस्ट पार्टी (यू एम एल) के बारे में लिबरेशन के रुख से भी जाहिर होती है। राजनीतिक सांगठनिक रिपोर्ट कहती है :

"हम सी.पी.एन. (यू एम एल) की सफलताओं का स्वागत करते हैं और इतने बुरे वक्त में अपने बिलकुल करीबी पड़ोसी देश में कम्युनिस्ट आंदोलन के शक्तिशाली उद्भव पर हर्ष प्रकट करते हैं।"

(वही, पृष्ठ 13)

क्या यही क्रांतिकारी दृष्टिकोण है? जो कोई भी कम्युनिज्म के नाम पर कुछ करना शुरू कर दे और उसे कुछ सफलताएं मिलने लगें तो आप उसका समर्थन करने लगेंगे? क्या आपके प्रस्थान बिन्दु में यह तय करना नहीं होगा कि वे क्रांतिकारी हैं या संशोधनवादी? आप नाम से प्रस्थान करेंगे या उनकी विचारधारा से? इस "क्रांतिकारी" सी.पी.एन. ने नेपाल में साल भर सत्ता संभाली। क्या साबित किया उसने? यही कि वह पूर्णतया व्यवस्था की पार्टी है। न केवल पूंजीपतियों को बल्कि वहां के राजा को भी सी.पी.एन. से कोई भय नहीं है। लेकिन लिबरेशन है कि उसे कम्युनिस्ट माने बिना नहीं रह सकता। ठीक भी है! एक संशोधनवादी, दूसरे संशोधनवादी को कम्युनिस्ट नहीं कहेगा तो और कौन कहेगा?

अब हम आखिरी बात पर आते हैं। यह है समाजवादी समाज में बहु-पार्टी व्यवस्था। **विचारधारात्मक प्रस्ताव** यह कहता है :

"6. सी.पी.आई. (एम एल) भारतीय परिस्थितियों में बहुपार्टी व्यवस्था वाले सर्वसहारा राज्य की संभावना से इंकार नहीं करती। तथापि, इसकी प्रकृति और इसके स्वरूप का निर्धारण केवल व्यवहार के दौरान हो सकता है।"

(वही, पृष्ठ 6)

यह और कुछ नहीं, बुर्जुआ वर्ग की जनवाद के बारे में चिल्ल-पों के सामने आत्मसमर्पण है। बुर्जुआ वर्ग एक अर्से से यह बकवास करता रहा है कि समाजवादी समाजों में तानाशाही होती है, कि वहां जनवाद नहीं होता। 1989 व 91 की घटनाओं के बाद "समाजवादी व्यवस्थाओं" के पतन की व्याख्या में यह चिल्ल-पों एक नये स्तर पर पहुंच गई थी।

चूंकि लिबरेशन खुद इन व्यवस्थाओं को "समाजवादी" मानता रहा है, सो ऐसा लगता है कि उसने बुर्जुआ प्रचार के प्रभाव में और खुद अपने तईं इस बात को मानना शुरू कर दिया कि समाजवादी समाज में जनवाद नहीं होता या वह वहां विकृत हो जाता है। यह इस बात से भी प्रमाणित होता है कि इसने अपने विचारधारात्मक प्रस्ताव में तीन बार समाजवादी जनवाद

के बारे में सवाल उठाया है जबकि, जैसा कि पहले इंगित किया जा चुका है, उसने सर्वहारा अधिनायकत्व की इसमें एक बार भी बात नहीं की है।

यही नहीं, चूंकि बुर्जुआ राजनीति में जनवाद को केवल बहुपार्टी व्यवस्था के रूप में ही देखता है, इसीलिए वह बहु पार्टी व्यवस्था के अभाव को जनवाद के अभाव के रूप में चिन्हित करता है। यानि, यदि कई सारी पार्टियां नहीं हैं, तो जनवाद भी नहीं है।

इस बारे में पहली बात तो यही है कि जनवाद अपने आप मे कोई निरपेक्ष और पवित्र चीज नहीं है। जैसा कि लेनिन **राज्य और क्रांति** में बताते हैं, जनवाद खुद राज्य है यानि यह भी एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग पर शासन करने का तरीका है। यह इसके अलावा कुछ हो भी नहीं सकता। समाजवाद में केवल इतना होता है कि जनवाद अब सर्वहारा और मेहनतकश जनता को दबाने के काम नहीं आता बल्कि बुर्जुआ वर्ग को दबाने के काम आता है। जैसे-जैसे समाज में वर्ग तिरोहित होते जायेंगे, वैसे-वैसे राज्य भी मुरझा जायगा तथा उनके साथ-साथ वैसे-वैसे जनवाद भी मुरझा जायगा। कम्युनिज्म में वर्ग नहीं रहेंगे, राज्य नहीं रहेगा और इसीलिए जनवाद भी नहीं रहेगा। बुर्जुआ जनवाद में आकंठ डूबे और उसे पूजनीय मानने वाले व्यक्ति को यह बात चाहे जितनी कड़वी लगे, सच यही है कि कम्युनिज्म में जनवाद भी खत्म हो जायगा। सभी चीजें "आदत" का हिस्सा हो जाएंगी।

कहने का मतलब यह कि जनवाद भी एक वर्ग-सापेक्ष चीज है और वर्गों से परे इसका कोई अस्तित्व नहीं है। समाजवादी समाज में यह सर्वहारा के काम आती है और बुर्जुआ समाज में बुर्जुआ वर्ग के। जो व्यक्ति इस बात को नहीं समझता, या इसमें घालमेल करता है वह केवल और केवल बुर्जुआ वर्ग की सेवा करता है, उसी तरह जैसे राज्य के चरित्र में गोलमाल करने वाला कोई व्यक्ति करता है।

अब आइए, बहु पार्टी व्यवस्था को लें। पार्टियां क्या होती हैं? मार्क्सवाद का क-ख-ग जानने वाला भी यह जानता है कि वर्ग विभाजित समाज में पार्टियां किसी न किसी वर्ग की प्रतिनिधि होती हैं। एक पार्टी किसी एक खास वर्ग की नुमाइंदगी करती है। किसी समाज में कितनी पार्टियां होगी, यह केवल इस बात पर निर्भर नहीं करता कि उस समाज में कितने वर्ग मौजूद हैं बल्कि इस बात पर भी कि वर्गों की आपस में सापेक्षित ताकत कितनी कम या ज्यादा है। यदि कोई विशेष वर्ग किसी समाज में बहुत प्रभुत्वशाली है तो वह बाकी वर्गों को 'हेजमोनाइज़' कर लेता है और उसकी पार्टी साथ में बाकी वर्गों को भी समेट लेती है और उन बाकी 'हेजमोनाइज्ड' वर्गों की पार्टियों को नहीं उभरने देती। इसके बरक्स, यदि किसी समाज में कोई एक वर्ग इतना प्रभुत्वशाली नहीं है कि बाकी वर्गों को भी अपने प्रभाव में ले ले तो बाकी वर्गों का भी स्वतंत्र राजनीतिक अस्तित्व हो जाता है और फिर इन अपेक्षाकृत स्वतंत्र वर्गों का प्रतिनिधित्व करने वाली पार्टियां भी पैदा हो जाती हैं।

उदाहरणस्वरूप, अमेरिका व भारत को लें। अमेरिका में पूंजीपति वर्ग बहुत ज्यादा प्रभुत्वशाली है और उसने मध्यम वर्गों समेत सर्वहारा को भी अपने प्रभुत्व में ले रखा है। इसीलिए वहां पूंजीपति वर्ग के दो हिस्सों की नुमाइंदगी करने वाली केवल दो प्रमुख पार्टियां है और इन दोनों ने बाकी वर्गों को अपनी 'हेजमोनी' में ले रखा है। ऐसा केवल इसलिए है कि बाकी वर्ग स्वतंत्र तौर पर अपने अस्तित्व को नहीं जता पा रहे हैं। जिस दिन ऐसा होने लगेगा, उस दिन

उनकी स्वतंत्र, अलग पार्टियां भी पैदा हो जाएंगी। लेकिन यह अमेरिकी समाज पर पूंजीपति वर्ग के सर्वांगीण प्रभुत्व के टूटने के साथ ही हो सकेगा।

इसके मुकाबले भारत में अनेकों पार्टियां हैं। इसका कारण यह है कि भारत में न केवल पूंजीपति वर्ग कई हिस्सों और रंगों में विभाजित है बल्कि अन्य वर्गों पर भी इस वर्ग का पूर्ण प्रभुत्व नहीं है। अन्य वर्ग भी अपने आप को दृश्य-पटल पर प्रदर्शित कर रहे हैं। ऐसे में न केवल पूंजीपति वर्ग के अलग-अलग हिस्सों और रंगों की पार्टियां हैं बल्कि अन्य वर्गों की भी अपनी पार्टियां हैं।

अब "मुक्त प्रतियोगिता" वाले पूंजीवाद के चरित्र में से यह बात निकलती है कि उसके लिए सर्वोत्तम होगा, यदि वह बहु पार्टी व्यवस्था वाले जनवाद को कायम करे। सारी पार्टियां आपस में "प्रतियोगिता" करेंगी और इसके माध्यम से शासन व्यवस्था चलती रहेगी जबकि पूंजीपति वर्ग का समाज पर अपना शासन मूलतः राज्य मशीनरी (नौकरशाही, सेना, पुलिस व न्याय व्यवस्था इत्यादि) से बना रहेगा। हम यहां, चुनाव, नेताओं की स्थिति तथा बुर्जुआ शासन में पार्टियों की वास्तविक भूमिका इत्यादि पर बात नहीं कर रहे हैं। ये सारी बातें भी मार्क्सवादियों के लिए आम हैं।

अब, यदि पार्टियां किसी न किसी वर्ग की नुमाइंदगी करती हैं तो समाजवादी समाज में बहु-पार्टी का क्या मतलब बनता है? हम सभी जानते और मानते हैं कि समाजवादी समाज में सर्वहारा की तानाशाही होती है। इसका मतलब होता है कि सर्वहारा वर्ग बाकी सभी मेहनतकश वर्गों (मसलन किसान) को अपने नेतृत्व में गोलबंद करता है और बुर्जुआ वर्ग पर तानाशाही लागू करते हुए पूरे समाज को कम्युनिज्म की ओर ले जाने का प्रयास करता है। यानि सर्वहारा की विचारधारा और उसकी नीति समाज पर हावी होते हैं, जिसका उद्देश्य होता है कम्युनिज्म की ओर प्रस्थान। और इन सबका नेतृत्व कम्युनिस्ट पार्टी कर रही होती है, जो सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधि होती है।

ऐसे में सर्वहारा राज्य में बहु पार्टी व्यवस्था होने का क्या मतलब है? कम्युनिस्ट पार्टी के अलावा जो भी पार्टी होगी, वह किसका प्रतिनिधित्व करेगी? यदि वह किसानों का प्रतिनिधित्व करेगी तो निश्चय ही यह पार्टी पूरे समाज को निजी सम्पत्ति की व्यवस्था की ओर ले जायगी जिसका अंतिम परिणाम पूंजीवाद की पुनर्स्थापना होगा। क्या सर्वहारा की तानाशाही इसकी इजाजत देगी? हरगिज नहीं। क्या यह पार्टी बुर्जुआ वर्ग का प्रतिनिधि होगी? तब सर्वहारा वर्ग की तानाशाही का क्या बचेगा? जिस वर्ग को आप पार्टी बनाने और इस तरह सत्ता पर काबिज हो जाने की अनुमति दे रहे हैं, उसका दमन और उसका खात्मा आप कैसे कर सकते हैं? क्या "शांतिपूर्ण प्रतियोगिता" से? यह हास्यास्पद होगा क्योंकि तब पूंजीवाद में "शांतिपूर्ण संक्रमण" होकर रहेगा।

कोई कह सकता है कि जो भी दूसरी पार्टी होगी, वह सर्वहारा की ही दूसरी पार्टी होगी जैसे कि पूंजीपति वर्ग की कई पार्टियां होती हैं। यह बात भी गलत है। पूंजीपति वर्ग की कई पार्टियां इसलिए होती हैं कि पूंजीपति वर्ग कई हिस्सों और रंगों में बंटा होता है और इनके अलग-अलग हित होते हैं। ये आपस में लगातार टकराते रहते हैं। इसीलिए पूंजीपति आपस में "प्रतियोगिता" करते हैं और उनकी अलग-अलग पार्टियां भी आपस में "प्रतियोगिता" करती हैं। जबकि सर्वहारा, बतौर सर्वहारा कई हिस्सों में नहीं बंटा होता और उसके अलग-अलग हित

नहीं होते। उसका हित और उसका मिशन एक होता है—कम्युनिज्म। जब सर्वहारा एक है और उसका मिशन एक है, जब उसका दर्शन एक है—मार्क्सवाद, तब फिर सर्वहारा अलग-अलग हिस्सों में क्यों बंटेगा? और उन अलग-अलग हिस्सों की पार्टियां क्यों अलग होंगी? बुर्जुआ वर्ग की कई पार्टियां होती हैं क्योंकि पूंजीपति वर्ग के विभिन्न हिस्सों के वर्गीय हित अलग-अलग होते हैं। क्या सर्वहारा के अलग-अलग हिस्से हैं और उनके वर्गीय हित अलग-अलग हैं? और यदि ऐसा है तो "दुनिया के मजदूरों, एक हो" के नारे का क्या मतलब बचेगा?

बात साफ है। सर्वहारा की कई पार्टियां होने का कोई मतलब नहीं है और सर्वहारा राज्य में सर्वहारा की तानाशाही के तहत किसी अन्य वर्ग की पार्टी के अस्तित्वमान होने की इजाजत नहीं दी जा सकती। इसलिए सर्वहारा राज्य में बहु पार्टी व्यवस्था की बात गलत है। और इसी कारण किसी भी समाजवादी समाज में इसकी इजाजत नहीं दी गई।

और फिर "भारतीय स्थितियों" का क्या मतलब है? क्या "भारतीय स्थितियां" सोवियत संघ, चीन या बाकी अन्य समाजवादी देशों की स्थितियों से इतनी भिन्न हैं कि जो वहां नहीं हुआ, उसकी यहां इजाजत दी जायगी। ये स्थितियां कौन सी हैं? ये कैसे स्थापित करती हैं कि भारत में सर्वहारा राज्य में बहु पार्टी व्यवस्था होगी?

इस "भारतीय व्यवस्था" के दो ही मतलब हो सकते हैं। चूंकि बहुपार्टी व्यवस्था को पहले के किसी समाजवादी समाज में इजाजत नहीं दी गई थी, अतः इसकी बात करने का मतलब पहले की पार्टियों की आलोचना होगा। और लिबरेशन संशोधनवादी, यह आलोचना करने का साहस नहीं कर सकते। यही नहीं, वे जानते हैं कि यह बात गलत है, इसीलिए वे इस गलत बात को "भारतीय परिस्थिति" की ओट में छिपाना चाहते हैं। दूसरा, यह हो सकता है कि वे सी.पी.आई. व सी.पी.एम. संशोधनवादियों के साथ केन्द्र में सत्ता में हिस्सेदारी की सोच रहे हों और इसके लिए यह भूमिका बना रहे हों। उनका "वाम महासंघ" का नारा और शताब्दी के अंत तक सभी "कम्युनिस्टों" को एक झंडे तले इकट्ठा करने का ख्वाब भी इसी ओर इंगित करता है।

जो भी हो, सर्वहारा राज्य में बहु-पार्टी व्यवस्था की यह बात सभी कोणों से एकदम गलत है। यह कम-से-कम मार्क्सवादी सोच को तोड़ना-मरोड़ना और ज्यादा-से-ज्यादा बुर्जुआ विचारधारा के सामने आत्मसमर्पण तथा बुर्जुआ सत्ता में भागेदारी की ख्वाहिश की सूचक है।

उपरोक्त विश्लेषण से हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि पांचवीं कांग्रेस तक आते-आते लिबरेशन संशोधनवाद में गले तक डूब जाता है और उसका पतन पूरा हो जाता है। यहां तक आते-आते वह मार्क्सवाद की कुछ बुनियादी प्रस्थापनाओं को भी छोड़ देता है।

छठीं कांग्रेस

छठीं कांग्रेस के दस्तावेजों में सोवियत संघ के सवाल का कोई जिक्र नहीं है, शायद इसलिए कि अब तक यह मामला पुराना पड़ गया था। लेकिन इन दस्तावेजों में ऐसा कोई भी संकेत नहीं है, जिससे यह लगे कि लिबरेशन ने सोवियत संघ के बारे में अपनी चौथी व पांचवीं कांग्रेस की अवस्थितियों में कोई परिवर्तन किया हो।

इस पार्टी कांग्रेस में **महान बहस** का कोई जिक्र नहीं है। महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति

का केवल एक ही बार जिक्र है, वह भी चलते-चलते और विफलता के अर्थ में। यह इस प्रकार है :

> "यद्यपि चीनी समाजवाद के चरित्र और भविष्य पर गंभीर प्रश्न चिन्ह लगा हुआ है, फिर भी हमें जल्दबाजी में किसी निर्णय पर पहुंचने से बचना होगा। सोवियत संघ के पतन और उससे भी पहले चीनी सांस्कृतिक क्रांति की विफलता के चलते, अब समाजवाद के निर्माण संबंधी समूचा विवाद एक खुला सवाल बन गया है।"
>
> (राजनीतिक संगठनात्मक रिपोर्ट, छठीं कांग्रेस, पृष्ठ 81)

यह सारा कुछ एकदम बकवास है! "समाजवाद के निर्माण संबंधी समूचा विवाद एक खुला सवाल बन गया है" कहने का क्या मतलब है? क्या इसके लिए कोई फ्रेमवर्क या रेफरेन्स प्वाइंट नहीं बचा है? क्या हमारे पास कोई सैद्धान्तिक उपादान नहीं है, निर्णय पर पहुंचने के लिए? क्या मार्क्स-एंगेल्स-लेनिन और माओ के पूंजीवादी और समाजवादी समाज के सारे विश्लेषण अर्थहीन हो गये हैं? आखिर किसके लिए "समूचा विवाद खुला सवाल बन गया है"?

निश्चय ही उनके लिए, जिन्होंने मार्क्स-एंगेल्स-लेनिन-माओ की शिक्षाओं को छोड़ दिया है। जिन्होंने "गोथा कार्यक्रम की आलोचना" से लेकर "राज्य और क्रांति", "महान बहस" तथा सर्वहारा क्रांति की अवधारणाओं को छोड़ दिया है। केवल वे ही "सांस्कृतिक क्रांति की विफलता" घोषित करते हुए अंधेरे में सोवियत संघ के पतन का कारण ढूंढ़ सकते हैं। केवल वे ही इधर-उधर हाथ-पांव मारते हुए बुर्जुआ "विशेषज्ञों" के निष्कर्षों को स्वीकार कर सकते हैं। जहां तक माओ विचारधारा को मानने वालों का सवाल है, उनके लिए कतई खुला सवाल यह नहीं बना है। उनके लिए सांस्कृतिक क्रांति और **महान बहस** में प्रस्तुत विश्लेषण मौजूद हैं और उसकी रौशनी में वे सोवियत संघ के हाल के पतन और चीन की वर्तमान हालत को बखूबी समझ सकते हैं।

"खुला सवाल" की यही बातें सी.पी.आई. व सी.पी.एम. भी करती हैं। उन्होंने आज सात-आठ साल बाद भी सोवियत संघ व पूर्वी यूरोप की घटनाओं का कोई विश्लेषण पेश नहीं किया है। वे अभी भी "अध्ययन" कर रहे हैं। यह एक बार फिर दिखाता है कि लिबरेशन संशोधनवादी बिल्कुल वही भाषा बोल रहे हैं जो सी.पी.आई. व सी.पी.एम. संशोधनवादी बोलते हैं। इनमें कोई फर्क नहीं बचा है।

जहां तक "सांस्कृतिक क्रांति की विफलता" का मामला है, लिबरेशन यह बताने का साहस नहीं करता कि यह "विफलता" क्या है। क्या यह "विफलता" चीन में पूंजीवादी पुनर्स्थापना रोकने में है? लिबरेशन तो अब भी चीन में पुनर्स्थापना को नहीं मानता। फिर यह "विफलता" कहां से आ गई? और फिर सांस्कृतिक क्रांति की अवधारणा में "विफलता" का क्या तुक है? यह क्रांति तो अपनी अवधारणा में पूंजीवादी पुनर्स्थापना की संभावना को मान कर चल रही थी। इसी के खिलाफ तो वह लड़ रही थी। ऐसे में कहा यही जा सकता है कि चीनी कम्युनिस्ट वह लड़ाई हार गये। लेकिन सांस्कृतिक क्रांति की अवधारणा की "विफलता" कहां से आ गई?

जहां तक चीन का सवाल है, लिबरेशन अभी भी "जल्दबाजी में किसी निर्णय" पर नहीं पहुंचना चाहता है। पता नहीं उसे कितना समय चाहिए? डेंग के सत्तारोहण के बाद आज 20 साल से ऊपर गुजर चुके हैं और लिबरेशन के लिए यह अभी भी जल्दबाजी है। चीन के बारे

में "चीनी पहेली" शीर्षक में राजनीतिक सांगठनिक रिपोर्ट कहती है :

"यद्यपि राज्य की मिल्कियत में चल रहे उद्यम 17 करोड़ की शहरी श्रमशक्ति में से अधिकांश को रोजगार देते हैं, पर सकल औद्योगिक उत्पाद में उनका हिस्सा जहां सुधार की शुरूआत के वक्त 1978 में लगभग तीन चौथाई था, अब एक तिहाई से भी नीचे गिर गया है। राज्य की मिल्कियत में चलने वाले उद्यम गहरे संकट में हैं और ऐसी रिपोर्टें हैं कि लाखों मजदूरों को महीनों वेतन नहीं मिलता है।.. वहां पूंजीवादी क्षेत्र लम्बे डग भरते हुए आगे बढ़ रहा है और चीन एक चौराहे पर जा पहुंचा है।

"चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने समाजवादी बाजार अर्थतंत्र की शब्दावली गढ़ी है। समाजवादी बाजार अर्थतंत्र इस प्रस्थापना पर खड़ा है कि समग्र रूप से समाजवादी ढांचे में, यानि कम्युनिस्ट पार्टी का शासन रहने और योजना, वित्त इत्यादि पर राजकीय नियंत्रण कायम रहने पर बाजार को निर्देशित व नियंत्रित किया जा सकता है और समाजवाद के निर्माण के लिए उसे काम में लगाया जा सकता है। इसे वे समाजवाद की पहली मंजिल कहते हैं जिसे अगले पचास वर्षों तक जारी रहना है।...**समाजवाद के शास्त्रीय मार्क्सवादी सिद्धान्त में हुए इसी संशोधन को चीनी विशेषताओं वाले समाजवाद के निर्माण का डेंग श्याओ पिंग का सिद्धांत कहा जाता है।** इसकी उत्पत्ति 1950 के दशक में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के अंदर चले दो लाइनों के संघर्ष में मानी जा सकती है।

"हम किसी देश में और वह भी एक पिछड़े एशियाई देश में, अकेले अपने बलबूते पर समाजवाद के निर्माण कार्य में आने वाली विराट कठिनाइयों को स्वीकार करते हैं।

"हम उस पद्धति का भी खंडन करते हैं **जिसमें समाजवाद को एक ऐसा कल्पनावादी माडल माना जाता है जिसे कहीं भी और किसी भी समय केवल इच्छाशक्ति के बल पर आरोपित किया जा सकता है और इस तरह उसके निर्माण पर अमूर्त ढंग से चर्चा की जाती है।** इसके बजाय, हम समाजवाद को एक ऐसे समाज के बतौर देखते हैं, जो पूंजीवाद के अंतर्विरोधों से वस्तुगत प्रक्रिया के बतौर, इतिहास की स्वाभाविक प्रक्रिया के बतौर उभरा है और **इसीलिए भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न संदर्भों में अनगिनत रूप अपना रहा है।**

"फिर भी, समाजवादी बाजारतंत्र की अनुभूति ही बेहद विवादास्पद लगती है। और फिर इन तथ्यों की रोशनी में कि चीनी अर्थतंत्र बहुलांश में पूंजीवाद बनता जा रहा है, वहां आंचलिक असंतुलन और अमीर-गरीब के बीच विभाजन बढ़ रहे हैं, नव धनाढ्यों का एक समूचा वर्ग उभर रहा है और भ्रष्टाचार बेहताशा फैल रहा है, **हम चीनी समाजवाद के भविष्य के बारे में गंभीर रूप से चिंतित हुए बिना नहीं रह सकते।"**

(वही, पृष्ठ 8-9, जोर हमारा)

यह समाजवाद का "कल्पनावादी माडल" कौन पेश करता है और उस पर "अमूर्त ढंग से चर्चा" कौन करता है? निश्चय ही, यह माओ-त्से-तुंग करते हैं और वह 1957 से लगातार करते चले जाते हैं—1976 तक। वे यह 'महान अग्रगामी छलांग' में करते हैं, 'महान बहस' में करते हैं और फिर 'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति' में उससे भी बड़े पैमाने पर करते हैं। "यथार्थवादी माडल" कौन पेश करता है और उस "ठोस ढंग" से कौन चर्चा करता है? निश्चय ही यह ल्यू श्याओ ची करता है और डेंग स्याओ पिंग करता है। यही डेंग स्याओ पिंग 1978 से अपने इस "यथार्थवादी" माडल को समाजवादी बाजार व्यवस्था के नाम पर चीन में "ठोस" रूप में लागू कर रहा है। परिणाम क्या है? आपके ही शब्दों में "वहां पूंजीवादी क्षेत्र लम्बे डग भरते हुए आगे बढ़ रहा है।"

"कल्पनावादी माडल" और समाजवाद पर "अमूर्त चर्चा" कम्युनिज्म की ओर ले जाती है, जबकि "यथार्थवादी माडल" और उसका "ठोस" अमल पूंजीवाद की ओर ले जाता है, इस बात से आपकी तरह का कोई बेहया संशोधनवादी ही इंकार कर सकता है।

तीसरी-चौथी-पांचवीं सभी कांग्रेसों में लिबरेशन ने डेंग स्याओ पिंग का नाम लेने से परहेज किया था, जैसे सामंती मूल्य-मान्यताओं वाली कोई भारतीय स्त्री अपने पति का नाम लेने से शर्माती है। निश्चय ही, बात यही थी। लिबरेशन का गुरु (पति) डेंग स्याओ पिंग था जिसके नाम का जिक्र करने से वह लगातार कतराता रहा। अब कहीं मजबूरी में जाकर उसने डेंग स्याओ पिंग का नाम लिया है। अब शायद रिश्ते में बुढ़ापा आ गया है और शरम उतनी नहीं रही।

डेंग स्याओ पिंग के बारे में जरा इनकी टिप्पणी तो देखिये :

"समाजवाद के शास्त्रीय मार्क्सवादी सिद्धांत में हुए इसी संशोधन को चीनी विशेषताओं वाले समाजवाद के निर्माण का डेंग स्याओ पिंग सिद्धांत कहा जाता है। इसकी उत्पत्ति 1950 के दशक से चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के अन्दर चले दो लाइनों के संघर्ष में खोजी जा सकती है।"

1950 के दशक के संघर्ष का वर्णन आप बुर्जुआ "तटस्थता" से क्यों करते हैं? आपकी पोजीशन क्या है इस संघर्ष में? इस संघर्ष में आप किसको ठीक मानते हैं—माओ को या ल्यू श्याओ ची, डेंग स्याओ पिंग व पेंग ती हुई को? साफ-साफ पोजीशन लेने से कतराना क्या सांबित करता है? क्या यही नहीं कि आप एक साथ दो "पति" रखना चाहते हैं—घोषित तौर पर माओ को और वास्तविक तौर पर डेंग स्याओ पिंग को?

आपके अनुसार डेंग स्याओ पिंग ने "समाजवाद के शास्त्रीय मार्क्सवादी सिद्धांत" में संशोधन किया। मार्क्सवाद का यह शास्त्रीय सिद्धांत "काल्पनिक" था या "यथार्थवादी"? यह "ठोस" चर्चा करता था या "अमूर्त"? सभी मार्क्सवादी जानते हैं कि मार्क्सवाद के शास्त्रीय सिद्धान्तों में किसी "संशोधन" को बहुत बुरी चीज माना जाता है। ऐसा करने वाले को "संशोधनवादी" कहा जाता है जो कम्युनिस्टों के बीच सबसे बड़ी गाली है क्योंकि लेनिन के अनुसार संशोधनवादी मजदूर वर्ग में पूंजीपति वर्ग के एजेन्ट और मजदूर वर्ग के गद्दार होते हैं। आप ऐसे संशोधन करने वाले डेंग स्याओ पिंग को "संशोधनवादी" मानते हैं या नहीं? आप यह बात साफ-साफ कहते क्यों नहीं? क्यों बात को इस तरह सूत्रित करते हैं कि उसका दुतरफा अर्थ निकल सके? कोई चाहे तो डेंग स्याओ पिंग को संशोधनवादी मान ले, कोई चाहे तो समाजवाद का "रचनात्मक विकास" करने वाला!

लेकिन इस सूत्र को पेश करने के बाद अगले दो पैराग्राफों में समाजवाद के "काल्पनिक" तथा "यथार्थवादी" माडल व "अमूर्त" व "ठोस" चर्चा की जो आपने बातें की हैं तथा जो यह घोषित किया है कि समाजवाद के अनगिनत रूप हो सकते हैं, उससे केवल यही निष्कर्ष निकल सकता है कि आप डेंग स्याओ पिंग के उपरोक्त "संशोधन" का समर्थन करते हैं। निश्चय ही, प्रकारान्तर से, सीधे-सीधे नहीं। और यही तो आप जैसे संशोधनवादियों की स्थापित शैली व कार्यपद्धति है। यदि आप बात को साफ-साफ कह देते तो सारा मामला ही हल हो जाता—दोस्तों-दुश्मनों दोनों के लिए!

लेकिन आप यह नहीं करेंगे और सारे यदि-किन्तु-परन्तु के बाद **चीनी समाजवाद के भविष्य** के प्रति चिन्ता जाहिर कर देंगे।

जहां तक शांतिपूर्ण संक्रमण का सवाल है, छठीं कांग्रेस में लिबरेशन ने एक और बड़ी "प्रगति" की है। इसने भारतीय बुर्जुआ संविधान के प्रति अपनी निष्ठा बुलंद कर दी है। लिबरेशन का संविधान कहता है :

> "धारा 45. वैधानिक रूप से संस्थापित भारत के संविधान के प्रति और समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता तथा जनवाद के उसूलों के प्रति पार्टी विश्वास व निष्ठा रखेगी और भारत की प्रभुसत्ता, एकता और अखण्डता को बुलंद करेगी।"
>
> (पार्टी संविधान, पृष्ठ 36)

क्या इसके बाद भी कोई कह सकता है कि लिबरेशन इस देश की बुर्जुआ सत्ता को उखाड़ फेंकने की इच्छुक है? क्या भारतीय बुर्जुआ संविधान के प्रति इस निष्ठा को "चुनाव लड़ने के लिए वैधानिक प्रावधान का पालन" कहकर खारिज किया जा सकता है? कोई पार्टी अपने संविधान से चलती है। अब यदि पार्टी सदस्य इस धारा के आधार पर बुर्जुआ संविधान के खिलाफ खड़े होने से इंकार कर दें तो? तब आप किस आधार पर उन्हें पार्टी से निष्कासित करेंगे? निश्चय ही "वैधानिक प्रावधान के पालन" की यह दलील बकवास है। बात यह है कि लिबरेशन खुद वहां पहुंच गया है जहां वह प्रत्यक्षतः या परोक्षतः यही कर रहा है और इसीलिए भारतीय संविधान के प्रति निष्ठा जाहिर करने में कोई दिक्कत नहीं। अन्यथा "वैधानिक प्रावधान के पालन" से बचने के लिए कई तरीके अपनाए जा सकते थे और कम्युनिस्टों का इतिहास बताता है कि वे हमेशा यह करते रहे हैं। उन्होंने बुर्जुआ संविधान के प्रति निष्ठा जाहिर करके अपने हाथ-पांव नहीं बांधे हैं।

एक अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट केन्द्र के बारे में इस कांग्रेस में कोई बात नहीं कही गई है।

जहां तक तीन दुनिया का सिद्धान्त है, बिना इसका नाम लिये, या बिना किसी आम दिशा का जिक्र किये निम्न बातें कही गई हैं :

> "साम्राज्यवाद के खिलाफ तीसरी दुनिया के देशों के अंतर्विरोध वैश्वीकरण के इस युग में बहुत प्रासंगिक हैं और वे बढ़ती जन पहलकदमियों में अभिव्यक्त हो रहे हैं, यद्यपि तीसरी दुनिया के शासक वैश्विक आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था में क्रमशः अधिक समाहित किए जा रहे हैं।"
>
> (राजनीतिक सांगठनिक रिपोर्ट, पृष्ठ 81)

यह कोई नयी बात नहीं है और इस संबंध में पहले कही गई बात यहां भी लागू होती है।

छठीं कांग्रेस तक आते-आते लिबरेशन का पतन अन्य क्रांतिकारी संगठनों के प्रति इसके रुख में सबसे तीखे ढंग से अभिव्यक्त होता है। जहां तक सी.पी.आई. व सी.पी.एम. का सवाल है, लिबरेशन उन्हें वामपंथी कहते हुए उनके साथ "वाम महासंघ" बनाने की अपनी कार्यनीति बरकरार रखे हुए है। चूंकि वे इस समय संयुक्त मोर्चे के साथ सत्ता में होते हैं, अतः वह खुलेआम उनके साथ जाने में शर्माता है, लेकिन कहता है कि जैसे ही वे सत्ता से बाहर आते हैं, वैसे ही उनके साथ "वाम महासंघ" की कोशिश शुरू हो जाएगी।

यही नहीं वह इस समय "जनवादी" संगठनों से भी "मोर्चे" बनाने की बात करने लगता है। इसी के तहत वह "रैडिकल समाजवादियों"—समता पार्टी—के साथ मिलकर 1996 में बिहार में चुनाव लड़ता है।

लेकिन जब क्रांतिकारी संगठनों की बात आती है तो लिबरेशन आपे से बाहर हो जाता

है और बकने-झकने लगता है। राजनीतिक सांगठनिक रिपोर्ट में पीपुल्स वार और एम. सी. सी. के बारे में ऐसी खूब अनाप-शनाप बातें की गई हैं। यह है कुछ बानगी :

> "पी. डब्ल्यू. जी. जैसे ग्रुप, जो अंतर्वस्तु में व्यापक राजनीतिक परिप्रेक्ष्य विहिन रैडिकल निम्न पूंजीवादी संगठन हैं...हमारी नीति है उन्हें जनवादी पार्टी का निर्माण करने देना; और हम उन्हें एक मुक्तरका जनवादी मोर्चे में एकताबद्ध करने का प्रयास करेंगे।"
>
> (राजनीतिक सांगठनिक रिपोर्ट, पृष्ठ 20)

जरा इस बात को इस वक्तव्य से मिलाकर देखिए :

> "हमने जिस जनवादी मोर्चे की अवधारणा रखी है, उसमें इन वाम पार्टियों (यानि सीपीआई व सीपीएम) के अतिरिक्त कई अन्य जनवादी शक्तियां रहेंगी, जो भारत में विभिन्न स्तर पर कार्यरत हैं और हो सकता है कि उनमें से कइयों को संसदीय राजनीति से कोई लेना-देना न हो।"
>
> (वही, पृष्ठ 19)

क्या इससे एकदम साफ नहीं है कि लिबरेशन सी.पी.आई. और सी.पी.एम. जैसे परले दर्जे के संशोधनवादियों को तो वामपंथी मानती है (और उनके साथ मिलकर "वाम महासंघ" बनाने की बात करती है) जबकि वह PWG जैसे संगठनों को निम्न पूंजीवादी या जनवादी मानती है (जिनके साथ वह जनवादी मोर्चा बनाने की बात करती है)? क्या लिबरेशन की पक्षधरता यहां एकदम स्पष्ट नहीं है? क्या इसमें किसी भी तरह के संदेह की गुंजाइश है?

इन क्रांतिकारी संगठनों के बारे में एक ओर सुभाषित सुनिए :

> "अराजकतावादी संगठन, जो धनराशि वसूलने वाली मशीनों में पतित हो रहे हैं, हमारे कार्यकर्ताओं तथा जन समुदाय की हत्या के अभियान में लिप्त हो रहे हैं; और अपने संदेहास्पद संबंधों को ढकने के लिए, संगठित जन आंदोलनों को नष्ट-भ्रष्ट करने के अपने घृणास्पद लक्ष्य को ढकने के लिए, वे हर सम्भव अति-वाम लफ्फाजी का सहारा ले रहे हैं।"
>
> (वही, पृष्ठ 52)

काश कि वे इससे थोड़ी भी मिलती-जुलती भाषा का प्रयोग सी.पी.आई. व सी.पी.एम. संशोधनवादियों के लिए भी करते!

और आगे सुनिए :

> "अराजकतावादी कानून व्यवस्था के लिए कितनी भी समस्याएं क्यों न खड़ी करें, वे शासक वर्गों के राजनीतिक वर्चस्व के लिए कोई चुनौती नहीं बनते। अगर सत्तर के दशक में चुनाव बहिष्कार का आह्वान चरम क्रांतिकारी अग्रगति की अभिव्यक्ति था, तो नब्बे के दशक में वह चरम अक्सरवादी विश्वासघात में पतित हो चुका है।... चुनाव बहिष्कार पाथ पूंजीवादी राजनीतिज्ञों के हाथों ऐसे अराजकतावादी ग्रुपों का इस्तेमाल करके अपना उल्लू सीधा करने का आसान जरिया बन चुका है।"
>
> (वही, पृष्ठ 54)

तीसरी कांग्रेस तक जब भी सी.पी.आई. व सी.पी.एम. का जिक्र आता था, वे उनके नाम के पहले संशोधनवादी विशेषण जरूर लगाते थे। अब उन्होंने इसे बन्द कर उनके आगे वामपंथी विशेषण लगाना शुरू कर दिया है। इसी तरह तब वे क्रांतिकारियों को मार्क्सवादी-लेनिनवादी नाम से पुकारते थे। अब वे उन्हें अराजकतावादी कहते हैं। लिबरेशन द्वारा नामों में किया गया यह परिवर्तन क्या ऐसे ही हो गया है? जी नहीं। इसमें लिबरेशन की राजनीति व विचारधारा में हुए परिवर्तन का पूरा इतिहास छिपा है।

अब जरा एम.सी.सी. के बारे में इनका प्रशस्तिपत्र देखें :

"...लगता है कि उसने भूस्वामियों व व्यवसायियों से समझौता कर लिया है।... हर साल एम.सी.सी. तेंदू पत्ता और कत्था के ठेकेदारों से करोड़ों रुपया वसूल करती है और उसका वर्तमान उद्देश्य है कोयला खदानों तक पहुंचना, जहां गैर कानूनी रूप से लाखों का वारा न्यारा होता है। अब उसकी कोई राजनीतिक दिशा तो बची है नहीं, सो वह ऐसा फौजी दस्ता बन गया है जिसमें बन्दूक ही राजनीति की लगाम थामे है। इस प्रक्रिया में बड़ी तादाद में लुम्पेन तत्त्वों ने हथियार बन्द दस्तों की कमान संभाल ली है और उन्होंने लोगों की मध्ययुगीन तरीकों से हत्या करने में महारत हासिल कर ली है। तथाकथित जन अदालतों के जरिए छोटे-मोटे चोरों को दी गई सजाओं के नाम पर वे अक्सर हाथ काट लेते हैं, जीभ काट लेते हैं, अंधा कर देते हैं, इत्यादि।

"...उसके अराजनीतिकरण तथा लुंपेन दस्तों द्वारा उसका नेतृत्व हड़प लिए जाने के चलते वह धूर्त राजनीतिज्ञों के हाथों का औजार बन गई है।

"...हो सकता है कि उसने रणवीर सेना से संबंध बना लिए हों। और यह कतई अस्वाभाविक नहीं क्योंकि दोनों का केन्द्रीय एजेण्डा माले का विनाश है और दोनों का काम करने का तरीका भी-आश्चर्यजनक रूप से मिलता-जुलता है। दोनों ही मध्ययुगीन बर्बरता से दलितों की हत्या करते हैं और बच्चों व महिलाओं को भी नहीं बख्शते।

"एम.सी.सी. का यह कायापलट कोई अचरज की बात नहीं है क्योंकि इतिहास बताता है, तमाम क्रांतियों के दौरान अराजकतावादी अंततः सरकारी एजेन्टों में पतित हुए हैं। कम्युनिस्ट नेताओं की हत्या करना और सरकार के खिलाफ संगठित क्रांतिकारी आंदोलन में तोड़-फोड़ करना उनका मकसद बना है।

"...हमें बड़े पैमाने पर भंडाफोड़ चलाना होगा जिससे लोगों के सामने उनका जन-विरोधी, भूस्वामी और सरकार परस्त चेहरा स्पष्ट हो सके।...उसके अपने संगठन में और सामाजिक आधार में काफी अंतर्विरोध व झगड़े मौजूद हैं। आगामी दिनों में इनका और तीखा होना तय है और वे अपने अंदरूनी मामलों को भी बंदूक के जरिए ही हल करेंगे। हमें एम.सी.सी. के अंदर होने वाली घटनाओं पर गहरी नजरी रखनी होगी और उनके अंदरूनी अंतर्विरोधों का इस्तेमाल करने की हर सम्भावना की तलाश करना होगा। जनता उनके लुंपेन आतंक के राज से तंग आ चुकी है और हमें उनकी प्रतिक्रिया को संगठित रूप देने के लिए हर संभव प्रयास करना चाहिए।"

(वही, पृष्ठ 92-94)

क्या इस वर्णन के बाद लगता है कि एम.सी.सी. व चोरों-डकैतों-हत्यारों के गिरोह में कोई फर्क है?

बेपर्दा हो चुके संशोधनवादियों के प्रति नरमी और भाईचारे का रुख तथा क्रांतिकारियों के प्रति घृणा व दुश्मनी का रुख क्या एक बार फिर नहीं दिखाता कि लिबरेशन का वास्तविक चरित्र क्या है? कि किस हद तक वह पतित हो गया है? एम.सी.सी. के इस वर्णन और बुर्जुआ वर्ग द्वारा एम.सी.सी. के वर्णन में क्या रत्ती भर भी फर्क है? सरकार से लेकर प्रचार तंत्र तक क्या दिन रात एम.सी.सी. के बारे में यही नहीं कहते रहते?

लेकिन कोई आश्चर्य नहीं। लिबरेशन की '88 की इस यात्रा को '97 में यहीं पहुंचना था।

[यहां हम स्पष्ट कर दें कि हम पीपुल्स वार ग्रुप और एम.सी.सी. को मूलतः क्रांतिकारी संगठन मानते हैं, लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि हम उनकी सारी कार्यवाहियों या लाइन से सहमत हैं। बल्कि बात उल्टी है। हम भारत में क्रांति संबंधी उनकी रणनीतिक और कई सां

रणकौशलात्मक लाइन संबंधी अवस्थिति (कार्यक्रम, जन दिशा का सवाल इत्यादि) को ठीक नहीं मानते। लेकिन उनको मूलतः क्रांतिकारी मानने के कारण ही हम ऊपर लिबरेशन संशोधनवादियों के उनके प्रति रुख की विवेचना कर रहे थे।]

जहां तक समाजवादी समाज में बहुपार्टी व्यवस्था का सवाल है, इस बकवास के बारे में छठीं कांग्रेस में कोई बात नहीं कही गई है।

तीसरी से लेकर छठीं पार्टी कांग्रेसों के दस्तावेजों का ऊपर हमने जो अध्ययन किया है उससे लिबरेशन की विकास यात्रा साफ उभर कर आती है। तीसरी कांग्रेस के समय लिबरेशन विचारधारा के कुछ अत्यंत महत्वपूर्ण सवालों पर गंभीर अवसरवाद कर रहा था, लेकिन अभी पूर्ण संशोधनवाद से वह कुछ दूर था। सोवियत संघ में गोर्बाचोव के अभ्युदय के बाद लिबरेशन ने वह दूरी पूरी की तथा उसने पूरी संशोधनवादी अवस्थिति अपना ली। वह पूर्णतः संशोधनवादी हो गया। इसके बाद इसी दिशा में इसकी यात्रा बढ़ती रही तथा वह और ज्यादा पतित होता चला गया। पांचवीं व छठीं पार्टी कांग्रेसों में वह सी.पी.आई. व सी.पी.एम. संशोधनवादियों के समकक्ष पहुंच गया और पूर्णतया भारतीय संसदीय व्यवस्था में एकाकार हो गया। अब इसकी वापसी यात्रा की कोई भी संभावना नहीं है।

सांगठनिक लाइन

किसी संगठन का क्रांतिकारी से संशोधनवादी में रूपान्तरण, निश्चय ही उसकी सांगठनिक लाइन और उसकी सांगठनिक हालत में भी अभिव्यक्त होता है। लिबरेशन के मामले में भी यही हुआ। हम यहां कांग्रेसों के दस्तावेजों का अध्ययन करके देखेंगे कि यह कैसे हुआ।

(क) तीसरी कांग्रेस

तीसरी कांग्रेस के समय तक लिबरेशन एक भूमिगत संगठन था तथा यह भूमिगत ढांचे को क्रांति की अनिवार्य शर्त मानता था। इसने एस. एम. सिंह ग्रुप द्वारा खुले पार्टी संगठन का गठन करने के खिलाफ संघर्ष चलाया तथा उसे विलोपवाद के खिलाफ संघर्ष का नाम दिया। यही नहीं इसने तब कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के बीच एकता के लिए भूमिगत ढांचे को एक अनिवार्य शर्त बना दिया। तब भूमिगत ढांचा उसके लिए इतना महत्वपूर्ण था।

"विलोपवादियों के साथ लड़ाई ठोस रूप से किन सवालों पर चली?

"अव्वल तो इस सवाल पर कि क्या 1977 में हुए परिवर्तनों के बाद, पार्टी को खुला व कानूनी बना दिया जायगा या वह भूमिगत व गैर कानूनी बनी रहेगी। विलोपवादियों ने परिस्थिति के अपने मूल्यांकन के आधार पर भूमिगत ढांचे का विलोप कर देने की वकालत की। उनमें से कुछ लोगों ने एक ही झटके में ऐसा कर लेना चाहा, जबकि कुछ अन्य लोगों ने 'खण्ड-खण्ड करके' इस काम को अंजाम देना चाहा। कुछ लोग तो और भी आगे बढ़ गये तथा पार्टी की शुरूआत से ही अराजकतावादी बताते हुए उसकी भर्त्सना करने लगे। आप उनके वक्तव्यों पर नजर डालिए और आप समझ जाएंगे कि किस बुरी तरह वे भूमिगत ढांचे को हिकारत की नजर से देखते हैं।

"विलोपवादी, खुली पार्टी के अपने विचारों को मनवा लेने के लिए, खुली व कानूनी संभावनाओं के भरपूर इस्तेमाल की दुहाई देते हैं।...आज जो परिस्थिति मौजूद है उसमें भूमिगत ढांचे का विलोप करना न केवल गैर-उसूली कानूनवाद है, बल्कि एक ऐसी पार्टी के लिए

आत्मघाती भी जो क्रांति को सफल करने के लिए प्रतिबद्ध है।"

(तीसरी कांग्रेस के दस्तावेज, पृष्ठ 2.10, जोर हमारा)

इस समय कितनी दृढ़ता के साथ लिबरेशन ने पार्टी को खुला करने के खिलाफ पोजीशन ली थी! लेकिन पांच साल बाद ही वह चौथी कांग्रेस में 'परिस्थितियों' का हवाला देकर 'खण्ड-खण्ड करके' पार्टी खोलने का 'गैर उसूली' का काम करने लगा।

तीसरी कांग्रेस में लिबरेशन ने जब क्रांतिकारी कम्युनिस्टों के बीच एकता की शर्तें रखीं तो पांच शर्तों में से एक शर्त यह भी थी :

"...पार्टी संगठन का सिर्फ भूमिगत होना..."

(वही, पृष्ठ 3.87, जोर हमारा)

यानि इस समय लिबरेशन का मानना था कि पार्टी **सिर्फ** भूमिगत ही हो सकती है। इसी तरह कार्यक्रम में "क्रांति का रास्ता" में पार्टी के भूमिगत होने के बारे में यह विचार पेश किये गये थे :

"26. इन तमाम कार्यभारों को पूरा करने के लिए, **पार्टी बुनियादी तौर पर संघर्ष के गैरकानूनी भूमिगत और गैर-संसदीय रूपों को काम में लाते हुए** इन रूपों को शक्तिशाली बनाने व आगे बढ़ाने की खातिर, संघर्ष के अन्य तमाम संभव रूपों का भी, चाहे वे कानूनी, खुले और यहां तक कि, कुछ खास परिस्थितियों में, संसदीय रूप ही क्यों न हो, इस्तेमाल करती है।"

(वही, पृष्ठ 5.21, जोर हमारा)

यह सही दिशा है। लेकिन लिबरेशन ने इसी सही दिशा को अपनी चौथी कांग्रेस में 'खण्ड-खण्ड' करके त्यागना शुरू किया और पांचवीं कांग्रेस आते-आते पूर्ण तिलांजलि दे दी।

(ख) चौथी कांग्रेस

चौथी कांग्रेस तक पहुंचते-पहुंचते लिबरेशन नेतृत्व को लगने लगा कि पार्टी के साथ कुछ गड़बड़ है। और अंततः उसने गड़बड़ी का कारण पार्टी के भूमिगत ढांचे में ढूंढ़ निकाला!

"वर्षों से हम एक गंभीर समस्या का सामना कर रहे हैं, वह है जन कार्य की तुलना में पार्टी सदस्यों की संख्या में अत्यंत धीमी वृद्धि। निश्चय ही, इसके कारण की तलाश खुद पार्टी ढांचे के अन्दर ही की जानी चाहिए।

(चौथी कांग्रेस के दस्तावेज, पृष्ठ 1.5.5)

"एक लम्बे अरसे से, पुराना पार्टी ढांचा और नई कार्य परिस्थितियों के बीच टकराव चल रहा है। पार्टी ढांचे के मामले में जड़ चिन्तन और भूमिगत व खुले ढांचे के बीच यांत्रिक विभाजन कार्य में भारी जटिलताएं पैदा करता रहा है। एक ओर, इसके चलते कई सक्षम कामरेड निर्णय लेने की प्रक्रिया में शामिल न हो पाए, तो दूसरी ओर अनेक मामलों में भूमिगत ढांचा ढकोसला बन गया। संगठन व संघर्ष की मुख्य धारा से कटे-छंटे, अलगाव में पड़े और सर्वाधिक कमजोर किस्म के कुछ शेल्टर और ढांचे, चन्द कामरेडों द्वारा अपनी पहचान को छिपाना, जबकि तमाम व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए खुले संगठनों द्वारा कार्य करना; गोपनीयता के नाम पर कामरेडों का छोटे बेमतलब के दायरों में बन्द रहना—ये तमाम चीजें कई इलाकों में भूमिगत संगठनों और भूमिगत कार्य का पर्याय बन चुकी थीं। नतीजन पार्टी के स्वतंत्र ढांचे और उसके कार्य संचालन को भारी नुकसान पहुंचा है।"

(वही, पृष्ठ 1.5.5-1.5.6)

"हर साथी यह मानता है कि पार्टी सदस्यता की बढ़ोत्तरी की रफ्तार बेहद धीमी है।... मुझे तो डर है कि विकास की यह धीमी रफ्तार पार्टी का भी विलोप कर सकती है। हमारे कामकाज

की मौजूदा स्थिति में, जब हम केवल भूमिगत पार्टी के ढांचे में काम कर रहे हैं, यह खुद एक बड़े किस्म का संकट है।...

"...हमें यह सोचने पर मजबूर होना पड़ा है कि क्या चीज गड़बड़ है और कैसे इस समस्या का हल किया जाय। हमारा विचार है कि समस्या मौजूद ढांचे के अंदर ही मौजूद है।...

"...हमारा विचार है कि पुराना पार्टी ढांचा जिसे हम बीस वर्षों से बरकरार रखते आये हैं वही एक किस्म के ठहराव को जन्म दे रहा है।...क्या इससे यह साबित नहीं होता कि समस्या भूमिगत ढांचे के अंदर ही मौजूद है, जो ठहराव का शिकार हो रहा है? इसीलिए हमारे संगठनात्मक ढांचे में कुछ बुनियादी किस्म का बदलाव लाना जरूरी हो गया है। पुराना ढांचा विलोपवादी विचारों की पैदाइश के लिए उपयुक्त जमीन तैयार कर रहा है।

"हम मूलतः यह मानते हैं कि भूमिगत ढांचा ही केन्द्रक रहेगा और यहीं पर पीसीसी से हमारा मूलभूत फर्क है। इसके अलावा, पुनर्गठन के इस काम को कदम-ब-कदम करना होगा।"

(वही, पृष्ठ 1.7.11-1.7.12)

कितना फर्क आ गया पांच सालों के अंदर! पांच साल पहले लिबरेशन भूमिगत ढांचा खत्म करने वालों को विलोपवादी कह रहा था और उनके खिलाफ संघर्ष चला रहा था। और पांच साल बाद उसे लगने लगा कि उसके संगठन का भूमिगत ढांचा ही विलोपवाद को जन्म दे रहा है! उसने अपने पार्टी के ठहराव, संकट और विलोपवाद की उत्पत्ति को सही जगह नहीं तलाशा जबकि वे साफ-साफ दिखाई दे रहे थे।

"यहां यह उल्लेख करना जरूरी है कि इन तमाम मामलों में हाल के वर्षों में कई कामरेडों के अन्दर गंभीर कमियां पाई गई हैं। कुछ नेता अपनी जिम्मेदारियों के प्रति उपेक्षापूर्ण रुख दिखलाते पाए गये, कुछ तो कम्युनिस्ट नैतिकता के उसूलों से भी चिन्ताजनक तौर पर भटक गये, कुछ अन्य कामरेड सत्ता संघर्ष में फंस गये तथा कुछेक नेतृत्वकारी कामरेडों के बीच दीर्घकालीन कटुता आम चर्चा का विषय बन गई। कुछ संगठनों में मुकम्मल तौर पर अराजकता फैली हुई है तथा कमेटी के अन्दर की बहसों पर समूचे पार्टी संगठन में चर्चा फैल जाती है; इससे पार्टी के अंदरूनी मामलों का पता दुश्मन तक को चल जाता है।"

(वही, पृष्ठ 1.5.5)

इससे साफ है कि संकट कहीं और था। उसका कारण था पार्टी का विचारधारात्मक तौर पर अवसरवाद तथा 1985-87 में संशोधनवाद में रूपान्तरण। यहीं से पार्टी की क्रांतिकारी स्थिति का क्षरण हुआ तथा उपरोक्त कुप्रवृत्तियों ने जन्म लिया। इन सबकी मिली-जुली परिणति हुई पार्टी के ठहराव में। ऐसे में यदि पार्टी संकट को हल करना था तो जरूरी था कि उसके बुनियादी कारण को दूर किया जाता, यानि उसे पुनः क्रांतिकारी विचारधारा पर खड़ा किया जाता। पर पार्टी नेतृत्व तो और भी अधिक संशोधनवाद में कूद रहा था। तब वह यहां से शुद्धिकरण कैसे करता? ऐसे में पार्टी के भूमिगत ढांचे में संकट का कारण तलाशना लाजिमी था। और यह संशोधनवाद की विचारधारा से पूर्णतया मेल भी खाता था। यदि आपको क्रांति नहीं करनी है तो भूमिगत ढांचे की क्या जरूरत है? वह तो आपके गले की हड्डी बन ही जायगा। किसी न किसी बहाने आप उसे निकाल फेंकना चाहेंगे।

मजे की बात यह है कि लिबरेशन ने भूमिगत ढांचे को तिलांजलि देने के लिए राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय "परिस्थितियों" का भी बहाना नहीं बनाया, जैसा कि एस. एन. सिंह ग्रुप कर रहा था। उन्होंने तो भूमिगत ढांचे को खत्म करने का कारण खुद भूमिगत ढांचे में ही खोज

लिया और घोषित कर दिया कि यदि यह भूमिगत ढांचा बना रहा तो पार्टी का ही विलोप हो जायगा। ऐसे में पार्टी को बचाने के लिए जरूरी है कि भूमिगत ढांचे को खत्म कर दिया जाय! क्या भूमिगत ढांचे के खात्मे के लिए इससे अच्छी कोई दलील हो सकती थी? यह दलील दे देने के बाद खुली और गुप्त पार्टी के बारे में उसूली और गैर-उसूली की सारी बहस ही दरकिनार हो गयी। इससे लिबरेशन बहुत खूबसूरती से एक महत्वपूर्ण उसूली सवाल से छुटकारा पा गया। इससे मुक्त होकर वह खुलकर संशोधनवाद कर सकता था।

चौथी पार्टी कांग्रेस ने पार्टी को केवल आंशिक तौर पर खोलने का फैसला किया। लेकिन फिर लोग पूर्णतया पार्टी खोलने के लिए हल्ला मचाने लगे और अंततः पांचवीं कांग्रेस के तुरंत पहले समूची पार्टी को खोल दिया गया।

(ग) पांचवीं कांग्रेस

समूची पार्टी को खुला करने के लिए पांचवीं कांग्रेस में दिया गया विवरण बहुत सी चीजों को स्पष्ट कर देता है। यह लिबरेशन के संगठनात्मक पतन को खोल कर सामने रख देता है।

> "चौथी पार्टी कांग्रेस में हमने अपनी अनेक नीतियों में भारी परिवर्तन करने की सोची थी और पार्टी ढांचे में आवश्यक परिवर्तन करने का संकल्प लिया था। बहरहाल, कामरेडों के एक हिस्से ने अन्य ढंग से महसूस किया। उनके अनुसार, पुनर्गठन की कोई मात्रा पार्टी के अन्दर नई जान नहीं फूंक पाती और **इसलिए सर्वोत्तम मार्ग था किसी जनवादी पार्टी अथवा हद से हद किसी उदार वाम संगठन के पक्ष में कम्युनिस्ट पार्टी को अलविदा कह देना।**"
>
> (राजनीतिक सांगठनिक रिपोर्ट, पृष्ठ 55, जोर हमारा)

क्या किसी कम्युनिस्ट पार्टी के इससे ज्यादा पतन की कल्पना की जा सकती है जिसमें नेतृत्व का एक हिस्सा कम्युनिस्ट पार्टी के जनवादी पार्टी में रूपान्तरण की मांग करने लगे? ऐसे लोग क्या किसी पार्टी में रातों-रात पैदा हो सकते हैं? नहीं! वे लिबरेशन की वर्षों से चली आ रही अवसरवादी-संशोधनवादी लाइन से पैदा हुए थे।

> "विलोपवाद के विरुद्ध हमारी लड़ाई भी काफी आंधी-तूफान भरी साबित हुई। पार्टी का विलोप कर देने की धारणा सर्वप्रथम स्वयं चौथी कांग्रेस की पूर्ववर्ती केन्द्रीय कमेटी के अन्दर उभरी थी। लेकिन चौथी कांग्रेस में बहस सामने नहीं आई और कांग्रेस के बाद भी कुछ समय तक विलोपवादी लोग पूर्णरूपेण खुली बहस से कतराते रहे।"
>
> (वही, पृष्ठ 56)
>
> "विलोपवाद के विरुद्ध संघर्ष में हासिल उपलब्धियों को सुदृढ़ करने के लिए जुलाई 1990 में संगठित विशेष पार्टी सम्मेलन ने पार्टी का पुनर्गठन करने और पार्टी की पूर्ण भूमिका को सामने लाने की आवश्यकता को एक बार फिर रेखांकित किया। दरअसल, पार्टी पुनर्गठन का कार्य एक लम्बे अरसे से पड़ा हुआ था तथा इस मामले में तनिक भी और विलम्ब करने से पार्टी की न केवल अपनी नेतृत्वकारी भूमिका छिन जाती, बल्कि अस्तित्व भी खतरे में पड़ जाता।"
>
> (वही, पृष्ठ 64)

अस्तित्व का यह खतरा एक अन्य दिशा से भी पैदा हो रहा था। कुछ लोग लिबरेशन को भंग कर IPF के नाम से ही काम करने की मांग कर रहे थे। इस विलोपवाद से लिबरेशन, पार्टी को पूरी तरह खोल कर निपटा। पार्टी खोलने के लिए उसने जो कारण दिया वह इस प्रकार था :

> "यह अवश्य समझ लिया जाना चाहिए कि यद्यपि भूमिगत ढांचों ने हमारी नजरों में एक 'पवित्र',

> पुनीत दर्जा ग्रहण कर लिया था, तथापि खुद अपनी भूमिगत अवस्था के दौरान ही पार्टी विलोप के कगार पर पहुंच चुकी थी।
>
> *"अगर पार्टी को मार्क्सवाद की रक्षा में व्यापक प्रचार आक्रमण चलाना है, अगर उसे सीपीआइ और सीपीएम से संबंधित किन्तु उनसे मोहभंग हुए और उनसे विक्षुब्ध वाम कतारों के विशाल हिस्सों को प्रभावित करना है और उन्हें अपने पक्ष में जीत लेना है, अगर उसे अपनी सदैव फैलती जनकार्यवाहियों का नेतृत्व करना है और अपने विस्तार के लिए साहसपूर्ण प्रयास करना है तो इस मंजिल में एक खुली पार्टी अत्यंत जरूरी है।"*
>
> *(वही, पृष्ठ 65, इटैलिक्स मूल में)*

कितनी हास्यास्पद दलील है पार्टी खोलने के लिए? खुली पार्टी के जो काम गिनाये गये हैं, क्या वे काम एक भूमिगत पार्टी नहीं कर सकती थी? बखूबी कर सकती थी और दुनिया की सभी भूमिगत पार्टियों ने यह काम किया है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण तो बोल्शेविक पार्टी रही है। ये दलीलें देते वक्त लिबरेशन भूमिगत पार्टी के बारे में अपनी ही तीसरी पार्टी कांग्रेस की पोजीशन को बिल्कुल भूल गया है।

पार्टी के विलोप के खतरे और उसे खुला करने के कारण कुछ और ही हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, लिबरेशन पार्टी संगठन का पतन बहुत पहले ही, चौथी पार्टी कांग्रेस के पहले ही शुरू हो चुका था। यह उसके बाद और तेजी से बढ़ा। इसे पार्टी को खोलने से या पार्टी मापदंड हलका कर पार्टी सदस्यता बढ़ाने से नहीं रोका जा सकता था, क्योंकि पतन के कारण कहीं और थे। पतन का वर्णन राजनीतिक सांगठनिक रिपोर्ट इस प्रकार करती है :

> "बेशक हमारी पार्टी का विकास हुआ है, लेकिन इसके साथ-साथ निचले स्तरों पर गुटबाजियों में भी उल्लेखनीय वृद्धि हुई है।"
>
> (वही, पृष्ठ 61)
>
> "...चौथी कांग्रेस के फौरन बाद पश्चिम बंगाल में पार्टी विरोधी विलोपवादियों के गुट ने कुछ व्यक्तिगत मुद्दों का इस्तेमाल करते हुए गड़बड़ी फैलाने की कोशिश की...
>
> "तमिलनाडु में, जहां पार्टी गुटबाजी से जर्जर भी और तमाम व्यावहारिक कार्यों में पूरा गतिरोध छाया हुआ था, राज्य कमेटी भंग कर दी गई और एक तदर्थ कमेटी नियुक्त की गई...
>
> "बिहार में पार्टी-विरोधी शक्तियों ने तथाकथित 'डेमोक्रेटिक पीपुल्स फ्रंट' और पटना आधारित आद्री (एशियाई विकास अनुसंधान संस्थान) के जरिए पार्टी के अंदर विचारधारात्मक व संगठनात्मक असंतोष संगठित करने का प्रयत्न किया।...बेगूसराय, पलामू, और अब जहानाबाद में गुटबाजी ने जटिलताओं को बढ़ा दिया है।..."
>
> (वही, पृष्ठ 63-64)

ऐन-केन-प्रकारेण सदस्यता बढ़ाने के प्रयास का क्या परिणाम हुआ, यह निम्नलिखित तथ्य से पता चलता है।

तीसरी और चौथी पार्टी कांग्रेस के बीच लिबरेशन की सदस्य संख्या चार से पांच हजार के बीच घटती-बढ़ती रही। चौथी कांग्रेस के बाद सदस्यता बढ़ाने का अभियान लिया गया तो यह सदस्य संख्या पांचवीं कांग्रेस तक 25000 जा पहुंची। लेकिन यह संख्या फर्जी थी क्योंकि इसमें कोई गुणवत्ता नहीं थी। पार्टी की केन्द्रीय कमेटी ने जब 1991-92 के दो वर्षों में 20 लाख रुपये इकट्ठे करने का अभियान लिया तो इतनी ज्यादा सदस्य संख्या वाली पार्टी ने हाथ खड़े कर दिये। बाद में इसे आधा कर दिया गया। और जब यह आधा लक्ष्य हासिल हो गया

तो पार्टी ने राजनीतिक सांगठनिक रिपोर्ट में यह डींग हांकी कि "पार्टी के पास एक छोटी अवधि के दौरान इससे बड़ी धनराशि इकट्ठा करने की क्षमता मौजूद थी।" (पृष्ठ 64)

25000 सदस्यता की पार्टी और 10 लाख रुपये! ऊपर से डींग!

(घ) छठी कांग्रेस

खुली पार्टी के बाद लिबरेशन का यह पतन और तेजी से बढ़ता रहा। छठीं कांग्रेस के दस्तावेजों के हिसाब से छठीं कांग्रेस के समय इसकी सदस्य संख्या 60000 थी। लेकिन पहले की तरह यह हर ऐरे-गैरे नत्थू खैरे को पार्टी सदस्य बना लेने से प्राप्त की गई थी। जो लोग दूसरे पार्टी संगठनों के जन संगठनों के सदस्य भी बनने लायक नहीं थे, वे सब लिबरेशन के पार्टी-सदस्य बन गये।

नतीजा क्या हुआ?

"दिफू सम्मेलन ने इस समस्या पर सर्वांगीण रूप से विचार किया और विशेष रूप से चिन्हित किया कि **'निष्क्रिय सदस्यता** और व्यक्तिगत कार्यशैली केवल नौकरशाही को ही जन्म देती है।' पार्टी शाखाओं को संगठित करने और उन्हें नियमित आधार पर **सक्रिय बनाने** पर खास जोर दिया गया। **उस सम्मेलन ने पार्टी सदस्यों को किसी न किसी जन संगठन के साथ जुड़ने और जनता के दैनन्दिन मुद्दों तथा उन पर होने वाले आंदोलनों में सक्रिय भूमिका लेने पर जोर दिया।**"

(राजनीतिक सांगठनिक रिपोर्ट, पृष्ठ 72, जोर हमारा)

यह क्या माजरा है? कम्युनिस्ट पार्टियों में "निष्क्रिय सदस्य" कब से होने लगे? क्या सक्रियता पार्टी सदस्यता की बुनियादी शर्त नहीं होती? फिर सक्रिय होने या सक्रिय बनाने के आह्वान का क्या मतलब है? क्या इसका सीधा सा मतलब नहीं है कि जिस किसी को भी सदस्य बना दिया गया है? इससे आप खुश तो हो सकते हैं कि आपकी सदस्यता हजारों में है, लेकिन इससे हासिल क्या होगा, सिवाय सड़ान्ध के?

"यह गंभीर चिन्ता का विषय है कि बहुतेरे वरिष्ठ नेता व कार्यकर्त्ता मार्क्सवादी व पार्टी साहित्य के अध्ययन के प्रति अत्यंत अवहेलना दिखाते हैं...।"

(वही, पृष्ठ 75)

यह पतन "कार्यालय संस्कृति" में भी अपने को अभिव्यक्त करता है :

"तथापि, जब भी आपके पास कार्यालय तथा कार्यालयों के जरिए काम कर रहे नेता व कार्यकर्त्ता होंगे तो आपको एक नयी समस्या से मुखातिब होना पड़ेगा। बॉस-कर्मचारी की बीमारी, अक्सर अनचाहे ही घुस आती है। इसके अलावा लालफीताशाही, आज्ञा और हुक्म जारी करने, कार्यालयों का दोस्ताना गपबाजी के अड्डे बनना, इत्यादि पार्टी जीवन का अंग बनना शुरू हो जाते हैं। यह उस समय से कितना भिन्न है, जब हम अपने-अपने झोलों में अपना 'कार्यालय' संभाले फिरते थे, जब हम जनता के आश्रयों में रहते थे और आम कार्यकर्त्ताओं के साथ जीवन और सोच-विचारों में भागीदार थे? क्या आजकल के पेशेवरी के दिनों में भी वही कम्युनिस्ट भावना नहीं दौड़नी चाहिए।"

(वही, पृष्ठ 76)

नहीं, नोस्टाल्जिया चाहे कितना भी हो, वह भावना नहीं दौड़ सकती क्योंकि तब आप क्रांतिकारी थे और आज लाईलाज संशोधनवादी!

पार्टी संबंधों के बारे में रिपोर्ट कहती है :

"मगर कुछेक काले धब्बे भी दिखाई दे रहे हैं। कुछेक राज्य कमेटियों में वरिष्ठ सदस्यों के बीच संबंध हार्दिक तो कहे नहीं जा सकते और वहां बहु केन्द्रियता की समस्याएं भी उभरी हैं। ऐसी स्थिति में समस्याओं और मतभेदों को कमेटी में ही स्पष्ट तौर पर बहस के जरिए निपटाने के बजाय, 'समान विचारों वाले कामरेडों' जैसी अनधिकृत दलबंदियों और 'पीठ-पीछे आलोचना करने' की शैली जारी रखी गई। हाल के वर्षों में स्थानीयतावाद और आर्थिक अराजकतावाद ने उपयुक्त पार्टी संबंधों के विकास को क्षतिग्रस्त किया है।

"बेगूसराय में गुटीय झगड़े, जिनसे पिछली कांग्रेस के दौरान भी हम परेशान थे, समाधान से अब भी कोसों दूर हैं। कुछेक अन्य जिलों में भी ऐसी ग्रुपबंदियां मौजूद हैं, जहां पार्टी सदस्यों व कार्यकर्त्ताओं के हिस्से प्रभावशाली नेताओं के इर्द-गिर्द गोलबंद हैं और जहां ऐसे व्यक्तियों के प्रति वफादारी का स्थान समूची पार्टी के प्रति वफादारी से भी ऊपर है।"

(वही, पृष्ठ 76)

ये तो हैं पतन के कुछ रूप। असली पतन तो संसदीय चुनाव के मामलों में हुआ है। चूंकि लिबरेशन लगातार चुनाव के दलदल में धंसता जा रहा है और वह इसका एकमात्र पेशा बनता जा रहा है। सो यहीं पर उसका पतन सबसे ज्यादा मुखरता से अभिव्यक्त होगा। और वह हुआ है। उसके उदाहरण हम तब देखेंगे, जब हम कार्यनीति के तहत "संसदीय रास्ते" की समीक्षा करेंगे।

उपरोक्त वर्णन से साफ है कि किस तरह लिबरेशन ने संशोधनवादी रास्ते पर चलते हुए पार्टी के गोपनीय ढांचे को तिलांजलि दे दी। पार्टी के संबंध में जो चीज उसके लिए इतनी महत्वपूर्ण थी कि उसके खात्मे को वह पार्टी विलोपवाद की संज्ञा देता था, कुछ सालों बाद ही उसने बिना अपनी पुरानी पोजीशन का खंडन किए, एक नया बहाना गढ़कर उसको त्यागना शुरू कर दिया। इसके लिए उसने एस. एन. सिंह ग्रुप की तरह 'परिस्थितियों' का भी हवाला नहीं दिया। देश-दुनिया में कौन सी परिस्थितियां बदल गईं, जिसमें यह करना उचित था, यह उसने नहीं बताया। और वह बता भी नहीं सकता था। 1982 से 1992 के बीच देश-दुनिया में ऐसा कुछ भी नहीं हुआ जो एक गुप्त कम्युनिस्ट संगठन को खुले संगठन में बदलने की जरूरत पैदा करता। लिबरेशन यह बखूबी जानता था। इसीलिए जब इसने "खण्ड-खण्ड करके" पार्टी को खोलना शुरू किया तो बहाना बाह्य परिस्थितियों का नहीं, पार्टी की अंदरूनी हालत का बनाया। अब इनसे कोई पूछ सकता है कि यदि देश में क्रांतिकारी संकट मौजूद हो तथा आपकी पार्टी में कोई संकट पैदा हो जाय तो क्या आप अपनी पार्टी को खुला कर देंगे? या यदि देश में खुले काम करने की परिस्थितियां न हों तथा उपरोक्त तरह का पार्टी संकट पैदा हो जाय (जैसा कि आप अपनी पार्टी के बारे में बताते हैं) तो क्या पार्टी का गोपनीय ढांचा खत्म कर दिया जायगा? यह कोई काल्पनिक सवाल नहीं है। 1908-1912 के बीच रूस में इन्हीं स्थितियों में कुछ लोगों ने पार्टी के गुप्त ढांचे को खत्म करने की वकालत की थी। तब लेनिन ने उनके खिलाफ दृढ़तापूर्वक संघर्ष चलाते हुए इस संघर्ष को विलोपवाद के खिलाफ संघर्ष कहा था। यह तीखा संघर्ष पूरे चार साल चला था। अंत में पार्टी को बचाने के लिए बोल्शेविकों को यहां तक जाना पड़ा कि उन्होंने लाईलाज विलोपवादियों को पार्टी से निष्कासित कर 1912 में पार्टी का पुनर्गठन किया। लिबरेशन इस सबसे अपरिचित नहीं है। 1982 में जब इसने एस. एन. सिंह ग्रुप के विलोपवाद के खिलाफ संघर्ष चलाया तो निश्चय ही उसने 1908-12 के लेनिन के संघर्ष से सूत्र ग्रहण

किए थे। लेकिन 1988 आते-आते लिबरेशन नेतृत्व इतिहास की ये आम बातें और मार्क्सवादी पार्टी उसूल का ककहरा "भूल" गया। वह अपने संशोधनवादी इरादों को अंजाम देने के लिए पार्टी के ठहराव-संकट इत्यादि का हवाला देने लगा।

असल बात यह है कि 1988 तक आते-आते लिबरेशन पूर्णतया संशोधनवादी संगठन में तब्दील हो चुका था। यह बुर्जुआ राज्य सत्ता को उखाड़ फेंकने की इच्छा रखने वाले संगठन से मजदूर आंदोलन में बुर्जुआ के एजेन्ट के रूप में बदल चुका था। नेतृत्व के कुछ लोग इस प्रक्रिया को तार्किक परिणति तक पहुंचाना चाहते थे। वे चाहते थे कि कम्युनिज्म का साइनबोर्ड हटा दिया जाय और वे बुर्जुआ के एजेन्ट के बदले खुलेआम बुर्जुआ के प्रतिनिधि में बदल जायं। वे चाहते थे कि खामखा अपने आपको कम्युनिस्ट संगठन कहने के बदले जनवादी संगठन कहना शुरू कर दिया जाय—जो कि लिबरेशन 1990 में अपनी अंतर्वस्तु में वास्तव में बन चुका था। वे इसे किसी भी रूप में स्वीकार कर लेते। चाहे तो कोई नया नाम रख लो या फिर IPF के पुराने और जाने-पहचाने नाम से काम चला लो। उनकी यह मांग जायज थी और ज्यादा ईमानदारी का परिचायक भी। लेकिन विनोद मिश्र और नेतृत्व का बाकी हिस्सा चालाक था। वह जानता था कि कम्युनिज्म की नाम-पट्टिका हटाते ही उसकी पोल-पट्टिका खुल जायगी और आम जनता के बीच से उसकी लुटिया-डोरी उठ जायगी। वह इसके लिए तैयार नहीं था। अतः उसने पहले वालों के खिलाफ "विलोपवाद" के खिलाफ संघर्ष के नाम से मुहिम चलाई और उन्हें किनारे लगा दिया। यह करते हुए उसने यह दिखाने का प्रयास किया मानो उसने पार्टी बचाने के कम्युनिस्ट उसूलों का पालन किया हो।

विनोद मिश्र एण्ड कम्पनी वाले लिबरेशन के इस नेतृत्व ने अपना आदर्श इस मामले में पुराने संशोधनवादियों—भाकपा व माकपा को बनाया। ये पुराने संशोधनवादी, इन नये संशोधनवादियों के लिए आदर्श बन गये। उन्हें लगा कि यदि भाकपा और माकपा के संशोधनवादी पिछले चालीस-चालीस सालों से कम्युनिज्म की अपनी दुकान चलाते आ रहे हैं तो वे क्यों नहीं चला सकते? अतः उन्होंने इन्हें अपना माडल मानते हुए चार सालों के अंदर अपने गुप्त पार्टी ढांचे को तोड़-फोड़ कर खुले पार्टी ढांचे तक पहुंचा दिया। इस काम को अंजाम देने के लिए उन्होंने अगली पार्टी कांग्रेस तक की प्रतीक्षा नहीं की। पांचवीं पार्टी कांग्रेस (दिसम्बर' 1992) की तैयारी उसे गुप्त ढंग से करने के लिए शुरू की गई थी, लेकिन अप्रैल' 1992 में उन्होंने पूरे संगठन को खोल दिया और कांग्रेस भी खुले में आयोजित कर दी। कितनी जल्दी थी इन्हें! आठ महीने भी इनसे सब्र नहीं किया जा सका!

लिबरेशन के निर्लज्ज संशोधनवादी अपनी असली करतूतों को छिपाने या उसमें गोलमाल करने के लिए अभी भी गुप्त पार्टी ढांचे की बात करते रहते हैं, मसलन यह कि जरूरत पड़ने पर वे पुनः गुप्त हो जायेंगे। उन्होंने छठीं पार्टी कांग्रेस के दस्तावेजों में कुछ इसी तरह की बातें कर अपने आम सदस्यों की आंखों में धूल झोंकने की कोशिश की है। इससे वे अपने सदस्यों को यह दिखाना चाहते हैं कि वे गुप्त पार्टी ढांचे को "हिकारत" की नजर से नहीं देखते, कि जैसे ही जरूरत पड़ेगी वे गुप्त हो जायेंगे, कि इसके लिए पार्टी संविधान में प्रावधान है, कि इसके लिए वे पहले से ही तैयारियां करते रहते हैं, कि संघर्ष के कुछ इलाकों में वे गुप्त हैं। ये सारी बातें महज छलावा हैं। आम सदस्यों को धोखा देने की कोशिश हैं। जो कोई भी संगठन इस

प्रकार का है कि उसका सर्वोच्च नेतृत्व खुला है, उसकी सर्वोच्च कमेटियां खुली हैं, उसके खुले कार्यालय हैं, उसकी आम कार्यपद्धति खुली है, वह कोई भी गोपनीय ताना-बाना नहीं खड़ा कर सकता, वह जरूरत पड़ने पर कभी भी भूमिगत नहीं हो सकता और एक संघर्षरत इलाके में भी उसका गोपनीय रहना संभव नहीं है। ऐसे में उपरोक्त सारी बातें बकवास हैं।

वैसे तो कम्युनिस्ट पार्टी के लिए गोपनीय ढांचे की अनिवार्य अहमियत के बारे में बातें करना बहुत आम सैद्धान्तिक बातों को दुहराना होगा, फिर भी हम एक उदाहरण देना चाहेंगे जो किसी भी विभ्रम गुंजाइश नहीं छोड़ता। यह कौमिन्टर्न (तीसरे कम्युनिस्ट इंटरनेशनल) में कम्युनिस्ट पार्टियों के प्रवेश से संबंधित शर्तों में से लिया गया है। ये शर्तें लेनिन द्वारा लिखी गईं और कौमिन्टर्न की दूसरी कांग्रेस द्वारा पारित की गई थीं। प्रवेश की तीसरी शर्त इस प्रकार है :

> "उन देशों में जहां घेरेबंदी या आपातकाल की हालत कम्युनिस्टों के लिये कानूनी तौर पर काम करना असंभव बना देती हैं, वहां यह एकदम जरूरी है कि कानूनी और गैरकानूनी काम के तरीकों को मिलाया जाय। यूरोप और अमेरिका के सभी देशों में वर्ग-संघर्ष गृह-युद्ध के दौर में प्रवेश कर रहा है। इन स्थितियों में कम्युनिस्ट बुर्जुआ संवैधानिकता में जरा भी विश्वास नहीं कर सकते। उन्हें **हर जगह** समान्तर गैर कानूनी संगठन बनाने चाहिए, जो कि निर्णायक क्षणों में पार्टी को क्रांति के प्रति अपना कर्त्तव्य निभाने में मदद करेगा।"
>
> (लेनिन, "अगेन्स्ट रिविजनिज्म", अंग्रेजी संकलन, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मास्को, 1987, पृष्ठ 503, जोर मूल में, अनुवाद हमारा)

लिबरेशन, जो कि 1982 में अपनी पार्टी कतारों को "क्रांति के नये ज्वार" के लिए तैयार रहने के लिए ललकार रहा था, क्या यह कहेगा कि आज देश की स्थिति ऐसी है जहां सालों-साल तक कोई क्रांतिकारी संकट पैदा नहीं होगा? क्या उसके अपने ही दस्तावेज बारम्बार इसकी उल्टी बात नहीं इंगित करते? क्या ऐसे में **हर जगह** समान्तर गैरकानूनी पार्टी ढांचे को खड़ा करने की जरूरत नहीं है? क्या यह क्रांतिकारी संकट के समय रातों-रात पैदा हो जायगा? क्या लिबरेशन चाहता है कि दुनिया के कम्युनिस्ट दूसरे इंटरनेशनल के हश्र के सबक को भूल जायं? क्या तभी से सभी कम्युनिस्ट यह नहीं मानते आये हैं कि दूसरे इंटरनेशनल के पतन के मुख्य कारणों में से एक बात यह भी थी कि इसकी अधिकांश पार्टियां व नेता खुले, कानूनी तौर पर काम करने के आदी हो गए थे और जब क्रांतिकारी संकट आया तो वे पूर्णतः दिवालिया साबित हुए? क्या उन्होंने जेल जाने के बदले सरकार के पक्ष में खड़ा होना बेहतर नहीं समझा? और क्या ठीक यही सबक उपरोक्त शर्त की पृष्ठभूमि और मूल आत्मा नहीं है? आखिर 1914 से 1920 तक लेनिन इस मामले में कह क्या रहे थे?

लेकिन चालाक लोगों को समझाने की कोशिश करना फिजूल है, ठीक इसीलिए कि वे चालाक हैं और सब कुछ जानबूझकर कर रहे हैं? उनकी यह गद्दारी सोची-समझी है। यह किसी नाजानकारी, नासमझदारी का मामला नहीं है। मजदूर आंदोलन में बुर्जुआ एजेन्ट केवल यही करेंगे, कोई अन्य चीज नहीं। उनसे किसी और चीज की उम्मीद करना, अपने-आप को भ्रम में डालना है।

अंत में एक बात और! कुछ कोणों से यह बात उठती है कि क्या खुद बोल्शेविक पार्टी फरवरी '1917 से जुलाई '1917 तक खुले तौर पर काम नहीं कर रही थी? यदि वह खुले तौर

पर काम कर सकती है तो लिबरेशन या कोई अन्य संगठन क्यों नहीं?

यह वही चीज है जिसे **महान बहस** में कुतर्क का नाम दिया गया है। किसी भी तरह से इतिहास की कोई ऊपरी तौर पर साम्यता ढूढ़ लाओ और अपने आपको सही ठहराने का प्रयास करो। इसी पद्धति का इस्तेमाल करते हुए गोर्बाचोव 1985-1991 के बीच की अपनी आर्थिक नीतियों को लेनिन की 1921 की नई आर्थिक नीतियों का जारी रूप कहता था और जिस पर लिबरेशन का नेतृत्व इस तरह लट्टू हो गया था कि उसने सोवियत संघ के बारे में अपनी वर्षों की अवधारणा को त्याग कर उसे समाजवादी कहना शुरू कर दिया था।

पहली बात तो यह है कि फरवरी '1917 से जुलाई '1917 का रूसी काल सीधे-सीधे क्रांति का काल है। फरवरी में शुरू हुई क्रांति लगातार जारी थी। जनता हथियारबंद थी। मजदूरों और सैनिकों समेत किसान हथियारबंद थे। मजदूर-सैनिक व किसान अपनी-अपनी सोवियतों में लामबंद थे। वस्तुतः उस समय रूस में दुहरी सत्ता थी। एक थी बुर्जुआ सरकार की सत्ता—मेन्शेविकों व समाजवादी क्रांतिकारियों के नेतृत्व में और दूसरी थी सोवियतों की सत्ता। उस समय दोनों "क्रिटिकल बैलेन्स" पर थीं। कोई किसी को खत्म नहीं कर पा रहा था। इन्हीं स्थितियों में लेनिन ने यह बात कही कि सत्ता शांतिपूर्ण तरीके से जनता यानि सोवियतों के हाथ में आ सकती है और इसीलिए उन्होंने नारा दिया—"समस्त सत्ता सोवियतों के हाथ में"। क्रांति की इन्हीं स्थितियों में, हथियारबंद जनता की इन सोवियतों की मौजूदगी में, जहां असीमित जनवाद मौजूद था, बोल्शेविक पार्टी खुले में आयी—क्रांति की एक घटक पार्टी के रूप में। उपरोक्त क्रांति में बोल्शेविक सबसे अगली कतारों में थे।

दूसरी बात यह कि बोल्शेविकों के पास इसके पहले का 20 साल का भूमिगत कार्य का अनुभव मौजूद था (उससे भी पुरानी क्रांतिकारी विरासत का फिलहाल हम यहां जिक्र नहीं कर रहे हैं) तथा इस दौर में भी उन्होंने अपने पुराने भूमिगत ताने-बाने को खत्म नहीं किया। वह समूचा मौजूद था। ऐसे में जैसे ही जुलाई '1917 की घटनाएं हुईं, जब दुहरी सत्ता का खात्मा हुआ और सोवियतों की सत्ता बुर्जुआ-सत्ता के सामने पराजित हो गई तो बोल्शेविक पुनः भूमिगत हो गये। उनका भूमिगत ताना-बाना कितना शानदार था वह इसी बात से पता चलता है कि जुलाई की घटनाओं के दो महीने बाद ही सितंबर में ऐन राजधानी पेत्रोग्राद में, जब सरकारी खुफिया पुलिस उन्हें कुत्तों की तरह ढूंढ़ रही थी, उन्होंने अपनी छठीं पार्टी कांग्रेस आयोजित कर डाली। क्या यह पुराने अनुभव व पुराने भूमिगत ढांचे की मौजूदगी के बिना संभव था?

इन बातों से स्पष्ट है कि फरवरी-जुलाई '1917 का हवाला देना एकदम बेतुका है और केवल कुतर्क है। यह किसी भी तरह खुले पार्टी संगठन को जायज ठहराने की कोशिश है।

यहीं एक बात और द्रष्टव्य है। **महान बहस** से पता चलता है कि सोवियत संशोधनवादी अपने शांतिपूर्ण संक्रमण के सिद्धान्त के पक्ष में लेनिन की इस शांतिपूर्ण संक्रमण की बात (फरवरी-जुलाई '1917) का हवाला देते थे। यह हम पहले ही देख चुके हैं। अब लिबरेशन संशोधनवादी अपनी खुली पार्टी के लिए बोल्शेविक पार्टी के इसी काल का हवाला देते हैं। साथ ही वे शांतिपूर्ण संक्रमण की संभावना की बात भी करते हैं। क्या ये दोनों बातें आपस में संबद्ध नहीं हैं? क्या खुली पार्टी और शांतिपूर्ण संक्रमण की संभावना एक ही चीज की अभिव्यक्तियां नहीं हैं? क्या ये एक ही सिक्के के दो पहलू नहीं हैं? रूस के एक ही कालखंड (क्रांतिकारी कालखंड)

का हवाला देकर क्या सोवियत संशोधनवादी और लिबरेशन संशोधनवादी एक ही कुतर्क नहीं कर रहे हैं? क्या दोनों का मकसद एक ही नहीं है—अपनी संशोधनवादी धारणाओं को छिपाने का प्रयास करना?

इस तरह चाहे जिस ओर से भी देखें, लिबरेशन का सांगठिक उसूलों में संशोधनवाद चमकता हुआ नजर आता है। यह संशोधनवाद "संसदीय रास्ते" से मिलकर और भी घिनौना हो उठता है।

कार्यनीतिक लाइन

सभी संशोधनवादियों का एक ही चरित्र और उनका एक ही रास्ता होता है। वे शांतिपूर्ण संक्रमण की संभावना की बात से शुरू करते हैं, खुली पार्टी की वकालत करते हैं तथा संसदीय चुनावों के इस्तेमाल की बात से शुरू कर उसी में डूब जाते हैं। ये तीनों ही बातें, मोटा-मोटी एक ही साथ संशोधनवादियों की अवधारणा और कार्यपद्धति में शामिल होती हैं। भारत में पहले भाकपा, फिर माकपा तथा बाद में लिबरेशन के साथ यही हुआ।

अपने विश्लेषण के इस हिस्से में हम लिबरेशन की कार्यनीतिक लाइन के केवल दो बिन्दुओं को लेंगे जो उसके संशोधनवाद को सबसे अच्छी तरह से अभिव्यक्त करते हैं। ये बिन्दु है, बुर्जुआ संसद के प्रति दृष्टिकोण तथा वाम-महासंघ व वाम-जनवादी मोर्चा की धारणा। पहले की तरह इसमें भी हम चारों कांग्रेसों के दस्तावेजों के क्रमवार अवलोकन से लिबरेशन के क्रमशः पतन की यात्रा का नजारा देखेंगे।

(क) तीसरी कांग्रेस

तीसरी कांग्रेस में लिबरेशन बहिष्कारवाद और संसदीय चुनावों के इस्तेमाल (भंडाफोड़ करने के लिए) के बीच की स्थिति में खड़ा था। एक ओर तो इसने कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के बीच एकता की यह शर्त रखी कि वे भाकपा (माले) की पहली कांग्रेस के कार्यक्रम और कार्यनीतिक लाइन को मानते हों। इसका सीधा-सा मतलब था कि वे चुनाव के बहिष्कार की लाइन को मानते हों, क्योंकि पहली कांग्रेस ने इस मामले में यह सीधी लाइन अख्तियार की थी। यहां तक कि चुनावों का इस्तेमाल करने की बात करने वालों को उस समय सीधे-सीधे संशोधनवादी कहा जाता था। उस समय चुनावों में भागीदारी के कार्यनीतिक सवाल को जाने-अनजाने विचारधारा का सवाल बना दिया गया था। 'जो बहिष्कारवादी नहीं है, वह संशोधनवादी है।'

लेकिन इसके साथ ही यह कांग्रेस चुनावों के बारे में दूसरा रूप भी रखती है, जो अपेक्षाकृत ज्यादा सुसंगत है। इस कांग्रेस में पास कार्यक्रम में "संघर्ष के तमाम अन्य रूपों का भी—चाहे वे कानूनी, खुले और यहां तक कि कुछ खास परिस्थितियों में, संसदीय रूप ही क्यों न हों—इस्तेमाल" (वही, पृष्ठ 5.21) करने की बात की गई है। एक अन्य जगह चुनाव के बारे में यह कहा गया है :

> "...जनता के जनवाद की ओर कोई संक्रमणकालीन दौर तभी संक्रमणकालीन कहा जा सकता है, **जबकि उससे संसदीय जनवाद के प्रति जनसमुदाय के भ्रमों को दूर करने में मदद मिले। यहां तक कि बुर्जुआ संसद में कम्युनिस्टों की भागेदारी का उद्देश्य भी होता है : उसे**

भीतर से तोड़ना, न कि उसकी रक्षा करना और उसे मजबूत बनाना।"

(वही, पृष्ठ 3.54, जोर हमारा)

चुनावों के प्रति और बुर्जुआ संसद के प्रति तीसरी कांग्रेस में बस इतना ही है। इसके अलावा जो कुछ है वह भाकपा व माकपा संशोधनवादियों तथा एस.एन.सिंह व कानू सान्याल की तीखी भर्त्सना है जो क्रांति का रास्ता छोड़कर संसदीय रास्ते में गले तक डूब गये हैं :

"यह स्पष्ट है कि सी. पी. एम. का संक्रमणकालीन दौर संसदीय जनतंत्र के अथाह जल में डूबने और जनता के जनवाद का परित्याग करने की ओर जाने का संक्रमणकालीन दौर है।"

(वही, पृष्ठ 3.54)

तीसरी कांग्रेस तक लिबरेशन चुनावों से कितना दूर है, इसका अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि उसके द्वारा कल्पित जनवादी मोर्चा या "राष्ट्रीय विकल्प" भी मूलतः **गैर संसदीय** मोर्चा होता है।

"मौजूदा समय में जबकि कतिपय गैर पार्टी शक्तियां सामने आ रही हैं, जनवाद की व्यापक आकांक्षा उमड़ पड़ी है और बुर्जुआ बुद्धिजीवियों समेत जनता के विभिन्न तबकों द्वारा जनवाद के लिए संघर्ष का विकास हो रहा है, तब सर्वहारा की पार्टी का यह कर्तव्य है कि वह ऐसे रूपों व नारों के साथ, जो जनवादी शक्तियों के वृहत्तम हिस्से को स्वीकार हों तथा उन्हें एकताबद्ध करने में समर्थ हों, "राष्ट्रीय विकल्प" की अपनी पताका बुलंद करे। **निश्चय ही, ऐसे किसी भी मंच को मुख्यतः गैर संसदीय होना चाहिए ;** उसे अपने विस्तार सुदृढ़ीकरण व विजय के लिए जन संघर्षों पर निर्भर रहना चाहिए और सिर्फ जनवादी क्रांति की सामाजिक शक्तियों—यानि मजदूर, किसान, बुद्धिजीवी और बुर्जुआ के प्रगतिशील हिस्से—को ही शामिल करना चाहिए।.....क्रांतिकारी मार्क्सवादी लेनिनवादी और अन्य क्रांतिकारी पार्टी व संगठन, जनवादी जन संगठन और देशभक्त जनवादी व्यक्ति इस मोर्चे के घटक अंग होंगे।

"इस मोर्चे को.....तमाम तरह के बुर्जुआ व **संशोधनवादी गठजोड़ों के विरुद्ध खुद को विकल्प के रूप में प्रस्तुत करना चाहिए।** मोर्चे के अंदर सर्वहारा की पार्टी को मोर्चे को गैर राजनीतिक, बंधी बंधाई लीक पर चलने वाला, **संसदीय मोर्चा,** सामाजिक सुधार का मोर्चा बना देने और शासक वर्ग के हिस्सों के साथ गैर-उसूली समझौते करने जैसी उदारवादी बुर्जुआ प्रवृत्तियों के खिलाफ हमेशा अविकल संघर्ष चलाना होगा और इसे जुझारू जन संघर्षों की ओर और राजनीतिक सत्ता पर कब्जा करने के अंतिम लक्ष्य की ओर स्पष्ट तौर से निर्देशित करना होगा।"

(वही, पृष्ठ 3.55-3.56, जोर हमारा)

यह वही अवधारणा है जिस पर IPF का गठन हुआ। मूलतः सही इस अवधारणा में जोर स्पष्ट है : यह गैर-संसदीय होगा और इसे संसदीय मोर्चा बनाने की किसी भी कोशिश का विरोध किया जाना चाहिए।

इसके मुकाबले में लिबरेशन सी. पी. एम. के "मोर्चा" को रखता है और उसकी भर्त्सना करता है।

"सी. पी. एम. संशोधनवादी भी अपने द्वारा संचालित सरकारों को आधार बनाकर राष्ट्रीय विकल्प का अपना नमूना लिए हुए हाजिर हुए हैं और उन्होंने इसे नाम दिया है : "वाम और जनवादी मोर्चा"।....वह बुर्जुआ संविधान व संसदीय जनवाद की 'विशुद्धता' व पवित्रता की रक्षा करने का पैरोकार बन गई है। इस उद्देश्य के लिए वह, एक नेतृत्वकारी शक्ति के बतौर नहीं, बल्कि समान साझीदार, अथवा कम-से-कम महत्वपूर्ण साझीदार के रूप में विपक्षी पार्टियों के साथ मिलकर सरकार बनाने का प्रस्ताव रखती है।.....

".....इस सूत्रीकरण के साथ जिस पर वह छोटे-मोटे मतभेदों को छोड़कर सी.पी.आई. के साथ एकमत है, जनता की जनवादी क्रांति (पी डी आर) और राष्ट्रीय जनवादी क्रांति (एन डी आर) की दो धारणाएं 'वाम और जनवादी मोर्चे' के जरिए एक मंच पर लाई जाती हैं। विदेशी नीति के अन्य सवालों पर सी. पी. एम. पहले ही पीछे हटकर सी. पी. आई. की लाइन पर आ चुकी है और वाम जनवादी मोर्चा के साथ कार्यनीतिक लाइन पर भी मतभेद दूर कर लिए गये हैं। यही कारण हैं कि डांगे के निष्कासन के साथ, ये दोनों पार्टियां जितनी नजदीक आ गई है, उतनी पहले कभी नहीं थीं।"

(वही, पृष्ठ 3.53-3.55)

भाकपा और माकपा की इस संशोधनवादी कार्यनीति के बरक्स तीसरी कांग्रेस अपने मोर्चे की क्रांतिकारी कार्यनीति रखती है :

"...राज्यों में सरकार बनाने की सी.पी.एम. की कार्यनीति के विपरीत इस मोर्चे को जन-सरकार के—एक सच्चे जनवादी गणतंत्र के—नारे के साथ आगे आना चाहिए। ऐसी घड़ी आ सकती है जब इस मोर्चे को लोकप्रिय प्रतिनिधित्व पर आधारित संविधान सभा बुलाने के लिए अस्थाई क्रांतिकारी सरकार का नारा देना पड़े। अस्थाई क्रांतिकारी सरकार का सवाल विद्रोह के सवाल को सामने ले आता है। ऊपर से विद्रोह संगठित करने के जरिए पार्टी ऊपर और नीचे दोनों ओर से वर्ग-संघर्ष को जोड़ने की योजना रखती है। इन संदर्भों में संसदीय चुनावों के इस्तेमाल का सवाल आता है। चुनाव के सवाल को एक खास समय में विद्रोह के साथ जोड़ा जा सकता है और तब आप सरकार पर चुनाव थोप रहे होंगे। किसी दूसरे समय, जब संविधान सभा और अस्थाई क्रांतिकारी सरकार के नारों के सुदूर भविष्य तक लोकप्रिय होने की कोई संभावना न हो, तब आप चुनावों के इस्तेमाल के बारे में सोच सकते हैं। अन्य स्थितियों में आपको ऐसा नहीं करना चाहिए।..."

(वही, पृष्ठ 3.59)

उपरोक्त उद्धरणों से जाहिर है कि तीसरी कांग्रेस तक लिबरेशन अपने "बहिष्कारवादी" अतीत से साफ-साफ हिसाब चुकता न करने के बावजूद चुनावों के मामले में अपेक्षाकृत एक सुसंगत अवस्थिति पर खड़ा था। जहां तक "वाम-महासंघ" का सवाल है, लिबरेशन के एजेन्डे में यह अभी कहीं नहीं है। है भी तो एक क्रांतिकारी "राष्ट्रीय विकल्प", जो मूलतः क्रांतिकारी व अन्य जनवादी संगठनों को लेकर बनना था जिसे मूलतः **गैर संसदीय** रहना था। इसी तरह यदि एकता की बात थी तो सीधे-सीधे क्रांतिकारी खेमे की एकता की बात थी, न कि सी.पी.आई. व सी.पी.एम. संशोधनवादियों के साथ किसी प्रकार एकता की। यह सब उस काल के अनुरूप था जब लिबरेशन गंभीर अवसरवाद के बावजूद अभी खुलेआम संशोधनवादी नहीं हुआ था। लेकिन चौथी कांग्रेस तक यह सारा कुछ बदल गया। '85 के चुनावों में IPF के झंडे तले चुनावों में शिरकत की गई और '88 तक लिबरेशन वहां पहुंच गया जहां वह राज्यों में सरकार बनाने का सवाल उठा सकता था। यह 'संसदीय व्यवस्था का भंडाफोड़ करने' से 'राज्य सरकार बनाने' तक का सफर था।

(ख) चौथी कांग्रेस

अन्य मामलों की तरह चौथी कांग्रेस 'संसदीय रास्ते' के बारे में भी लिबरेशन के लिए निर्णायक मोड़ था। इस मामले में यहीं से वह परिवर्तन हुआ जो उसे अंततः 'संसदीय जनतंत्र के अथाह जल में डूबने' तक ले गया। इसीलिए इस कांग्रेस के दस्तावेजों से इस मामले में हम विस्तृत उद्धरण देंगे।

अपनी पिछली लाइन में चुपके से परिवर्तन करते हुए यह कांग्रेस कहती है :

"हमारी प्रारंभिक धारणा में गैर संसदीय संघर्षों पर इस कदर जोर दिया गया था कि उससे संसदीय संघर्ष कमोबेश हिसाब से बाहर ही रह जाता था। लेकिन पिछले कुछ वर्षों में हम संसदीय संघर्षों में भी शामिल रहे हैं। इन संघर्षों को हल्के-फुल्के ढंग से नहीं लेना चाहिए और हमें अवश्य ही संसदीय संघर्ष की संभावनाओं को और अधिक खोज निकालना चाहिए। "भविष्य में जब तीखे राजनीतिक संकट के चलते शक्तिशाली जन संघर्षों में एक उभार आने की स्थिति आ खड़ी हो तो ऐसी स्थिति में, तथा कुछेक अपवादस्वरूप आनेवाली स्थितियों में भी, कुछेक राज्य सरकारों में भागीदारी करने का सवाल भी आ सकता है। हम अक्सर वाद-विवाद में इस प्रश्न को सामने लाते रहे हैं। यह कार्यनीति का एक विशिष्ट प्रश्न है और इसे साफ ठुकराना जायज नहीं है।..."

(वही, पृष्ठ 1.3.5, जोर हमारा)

यह टिप्पणी IPF के संबंध में की गई है। जरा ध्यान दीजिए। तीसरी कांग्रेस में "गैर संसदीय संघर्षों" में "इस कदर" जोर नहीं दिया गया था बल्कि उसकी दिशा ही वही थी। यह "जोर" का सवाल नहीं था, यह चुनावों के बारे में दृष्टिकोण का सवाल था। अतः यदि लिबरेशन को अपनी लाइन में परिवर्तन करना था तो उसे साफ कहना चाहिए था कि वह संसदीय चुनावों के बारे में अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन कर रहा है। लेकिन उसने यह दिखाया मानो, उसका दृष्टिकोण तो वही है, बात महज जोर की है। आखिर आप संशोधनवादियों से साफगोई की उम्मीद कैसे कर सकते हैं!

बिल्कुल यही बात दूसरे मामले में भी है। तीसरी कांग्रेस में यह कहा गया था कि "चुनाव का इस्तेमाल" तब करने की सोची जा सकती है जब विद्रोह व अस्थाई क्रांतिकारी सरकार के नारे के लोकप्रिय होने की गुंजाइश न हो। लेकिन यहां इसकी उल्टी बात कही जा रही है। "तीखे राजनीतिक संकट" और "शक्तिशाली जन संघर्ष के उभार" की स्थिति में लिबरेशन न केवल चुनाव लड़ेगा बल्कि वह राज्य सरकारों में भागेदारी तक करने की सोचेगा। क्या है यह सब! जब तीखा राजनीतिक संकट खड़ा हो रहा है और शक्तिशाली जनसंघर्ष का उभार आ रहा हो, तब आप राज्य सरकारों में भागीदारी करके बुर्जुआ संसदीय व्यवस्था के बारे में जनता में विभ्रम फैलाएंगे या उसका भंडाफोड़ करेंगे? निश्चय ही, आपके अनुसार पहले वाली बात होगी। यह करके केवल जनता में विभ्रम पैदा हो सकता है, अन्य कुछ नहीं। यह सी.पी.एम. संशोधनवादी 1964 से कहते और करते रहे हैं और आप भी 1988 से यही करने लगे।

सी.पी.आई. व सी.पी.एम. का यह हश्र जनता के सामने है। ऐसे में अपने संशोधनवादी नुस्खे को बेचने में लिबरेशन को दिक्कत आना स्वाभाविक सी बात थी। अतः उसे उनसे अपने आप को थोड़ा भिन्न दिखाना था :

"... अगर सी.पी.आई. और सी.पी.एम. संसदीय संघर्षों के दौरान पतित हो गईं, तो इससे हमारे समक्ष खड़ी चुनौती कुछ और बड़ी हो जाती है। भारतीय संसद के चरित्र को देखकर या यूरोप की संसदों की तुलना में इसके कहीं अधिक प्रतिक्रियावादी होने के नाम पर बहिष्कार की वकालत करना अत्यन्त हास्यास्पद है। सवाल तो यह है कि भारतीय शासक वर्गों के पास एक राजनीतिक हथियार के रूप में संसद है अथवा नहीं। अगर उनके पास ऐसा कोई हथियार है तो जरूरत उसे बर्बाद कर देने की है तथा वास्तव में इसका विनाश 'कई वस्तुगत कारकों की संयुक्त कार्यवाही' के जरिए ही संभव हो सकता है।"

(वही, पृष्ठ 1.7.2, जोर मूल में)

भाकपा और माकपा से अपने आपको भिन्न दिखाने के साथ चुनावों में हिस्सेदारी के लिए तीन और कारण गिनाए गये हैं :

"...दूसरे तर्कों को छोड़िए, निष्क्रिय बहिष्कार की बाध्यतामूलक स्थिति की यह स्वीकृति अपने आप में, नकारात्मक रूप से ही, चुनाव में भागीदारी के पक्ष में सबसे मजबूत प्रमाण है।"

(वही, पृष्ठ 1.7.2)

"हर जगह तमाम सर्वहारा क्रांतिकारी आंदोलन तमाम पूंजीवादी संस्थाओं के पूर्ण बहिष्कार से शुरू हुए और अंततः इनकी जगह सर्वहारा संस्थाओं की स्थापना की गई। लेकिन समूचे मध्यवर्ती दौर में नीतियों व कार्यनीतियों में लगातार सामंजस्य किये गये, परिस्थितियों में हुए परिवर्तनों और आंदोलनों की स्थिति के आधार पर उन्हीं पूंजीवादी संस्थाओं के साथ तालमेल बिठाये गये।... मार्क्सवादी-लेनिनवादियों को मध्यवर्ती दौर के इस सर्वाधिक महत्वपूर्ण समस्या का समाधान करना होगा। पार्टी को दृढ़ व निपुण सांसदों के एक ग्रुप की तथा विभिन्न विधान सभाओं में ऐसे ही ग्रुपों की सख्त जरूरत है क्योंकि प्रतिक्रियावादी संसद के बाहर की जनकार्यवाहियों को संसद के अंदर प्रत्यक्षतः इसका समर्थन करने वाली विपक्षी कार्यवाहियों के साथ संयोजित कर पाने से क्रांतिकारी संघर्षों को एक नया आवेग मिलेगा। इस संयोजन को साकार करने के लिए समूची पार्टी को जी-तोड़ कोशिश करनी चाहिए।"

(वही, पृष्ठ 1.7.2)

"...हम यह नहीं जानते कि कब और किस प्रकार ये परिस्थितियां फिर पैदा होंगी, मगर हम यह अच्छी तरह जानते हैं कि संसद के अंदर काम करना ऐसी परिस्थितियों के पैदा होने की अनिवार्य शर्त है।"

(वही, पृष्ठ 1.7.3)

ये तीनों ही तर्क लाजवाब हैं। पहले तर्क को लें। चूंकि जनता खुद ही चुनाव में वोट नहीं देने जाती और इस प्रकार निष्क्रिय बहिष्कार करती है, इससे पता चलता है कि जनता का चुनावों से मोहभंग हो रहा है। लेकिन यह निष्क्रिय बहिष्कार कैसे साबित करता है कि चुनावों में भागीदारी अवश्य करनी चाहिए? यदि आप सक्रिय बहिष्कार से जनता का मोहभंग और ज्यादा करवा पाने में सक्षम हो सकें तो अपने क्रांतिकारी उद्देश्यों के लिए क्या यह उतना ही लाभदायक नहीं होगा जितना चुनावों में हिस्सेदारी? आखिर चुनावों में हिस्सेदारी का उद्देश्य क्या है? यही न कि जनता का संसदीय व्यवस्था और संस्थाओं से मोहभंग किया जाय व उन्हें राजनीतिक तौर पर "कालातीत" बना दिया जाय (ऐतिहासिक तौर पर वे पहले ही कालातीत हो चुकी हैं)। इसके लिए सतत् भंडाफोड़ ही एकमात्र सही कार्यवाही है। यह चुनावों के दौरान किया जायगा, यह संसद के बाहर किया जायगा और संसद के भीतर भी। ऐसे में यदि सक्रिय बहिष्कार से इस भंडाफोड़ में मदद मिलती है तो यह क्यों नहीं किया जायगा? क्यों चुनावों से ही चिपका जायगा? क्यों ऐसा होगा कि आप चुनाव जीतकर और संसद में जाकर ही संसदीय व्यवस्था का भंडाफोड़ कर पायेंगे? और आप यदि यह सोचते हैं तो यह संसद के प्रति मोह नहीं है तो और क्या है? यह किसी भी तरह चुनावों में भागीदारी को जायज ठहराने की कोशिश नहीं तो और क्या है?

दूसरे तर्क को लें। यह एकदम बकवास है। यह ऐतिहासिक तौर पर, तथ्यतः गलत है।

"हर जगह..."? किन-किन देशों के क्रांतिकारी आंदोलनों का इतिहास ऐसा है? रूस को ही लें। वहां शुरू में संसदीय संस्थाएं थीं ही नहीं। 1905 की क्रांति के बाद जब अस्तित्व में आईं तो बोल्शेविकों ने उनमें भागीदारी व बहिष्कार दोनों की कार्यनीति अपनाई—परिस्थितियों के अनुसार। चीन में तो क्रांति शुरू से ही हथियार-बंद रही। वहां भी संसदीय व्यवस्था के इस्तेमाल का सवाल खड़ा नहीं हुआ। अन्य देशों का भी ऐसे ही भिन्न इतिहास है। तब फिर यह थीसिस कहां से पेश की गई जो ऐतिहासिक तौर पर तथ्यतः गलत है? क्या यह अपनी कार्यनीति को सही ठहराने की भौंडी कोशिश नहीं है कि पहले हमने बहिष्कार किया, अब भागीदारी कर रहे हैं और भविष्य में सर्वहारा संस्थाएं बना लेंगे? क्या इससे भी नीचे कोई जा सकता है कि अपने आपको सही ठहराने के लिए ऐतिहासिक तथ्य गढ़ ले।

इससे भी भद्दी दूसरी बात है। "उन्हीं पूंजीवादी संस्थाओं के साथ ताल-मेल बैठाए गए।" यह क्या है? किन देशों में, किन क्रांतिकारियों ने यह कार्य किया? क्या लिबरेशन के नेतागण इतने नासमझ हैं कि वे "तालमेल बैठाने" का अर्थ भी नहीं समझते? निश्चय ही, ऐसा कभी नहीं हुआ। जब तक क्रांति नहीं होती, तब तक हर क्रांतिकारी और क्रांतिकारी पार्टी बुर्जुआ व्यवस्था के भीतर रहती है और उससे लड़ती है। दोनों एक दूसरे के जानी-दुश्मन होते हैं। कौन-किस स्थिति में खड़ा है, यह केवल दोनों की ताकत से तय होता है। दोनों ही एक-दूसरे को केवल मजबूरी में सहते हैं, बर्दाश्त करते हैं। ऐसे में "तालमेल बैठाने" का सवाल कहां से पैदा होता है? वह भी "पूंजीवादी संस्थाओं से तालमेल बैठाने" का सवाल कहां से पैदा होता है? यदि "तालमेल बैठाते" तो क्या बोल्शेविक सांसद साइबेरिया में निर्वासित होते? "पूंजीवादी संस्थाओं से तालमेल" का यह राग क्या खुद लिबरेशन की अपनी नई चुनावपरस्त कार्यनीति को येन-केन-प्रकारेण सही ठहराने की कोशिश नहीं है? निश्चय ही, यही बात है और "पूंजीवादी संस्थाओं से तालमेल" की अपनी नीति के लिए ही वह आह्वान करता है कि इसके लिये "समूची पार्टी को जी-तोड़ कोशिश करनी चाहिए"। हां, जरूर करो। कभी न कभी आप को भी ज्योति बसु की तरह बुर्जुआ सत्ता का सुख भोगने का मौका मिलेगा! आखिर, उम्मीद पर दुनिया कायम है!

अब तीसरे तर्क को लें। "संसद के अंदर काम करना ऐसी परिस्थितियों के पैदा होने की **अनिवार्य शर्त है**।" क्रांतिकारी परिस्थितियां पैदा करने के लिए संसद के अंदर काम करना कब से "अनिवार्य शर्त" हो गई? क्या चुनाव बहिष्कार का नारा क्रांतिकारी परिस्थितियां पैदा नहीं करेगा? क्या चुनाव बहिष्कार हमेशा-हमेशा के लिए कम्युनिस्टों के कार्यनीतिक एजेन्डे से गायब हो गया? अभी तक सारे क्रांतिकारी (और तीसरी कांग्रेस में आप भी) यही मानते रहे हैं कि बहिष्कार या भागीदारी स्थितियों पर निर्भर करती है। अब आप यह मानने लगे हैं कि बहिष्कार के लायक क्रांतिकारी परिस्थितियों के पैदा होने के लिए संसद के अंदर काम अनिवार्य शर्त है! चुनावों में भागीदारी और संसद में काम की इस "पदोन्नति" का क्या अर्थ है? क्या यह मान लिया जाय कि बिना संसद में काम किये अब ऐसी परिस्थितियां पैदा नहीं होंगी? यह पिछले दरवाजे से संसदीय रास्ते को सबसे अहम् घोषित करना नहीं तो और क्या है?

एक बार हम फिर दुहरा दें कि लेनिन के हवाले ("वामपंथी कम्युनिज्म..." इत्यादि) से तथा बोल्शेविक पार्टी के इतिहास के उदाहरण से दुनिया भर के कम्युनिस्ट यह जानते और मानते रहे हैं कि जहां कहीं भी बुर्जुआ संसदीय चुनाव प्रणाली मौजूद है, वहां कम्युनिस्टों को व्यवस्था

का भंडाफोड़ करने के लिए और जनता का व्यवस्था से मोहभंग करने के लिये इनका इस्तेमाल करना चाहिए। बस इतना ही। न इससे ज्यादा और न इससे कम। लेकिन जो कोई भी चुनाव में भागीदारी को और संसद में काम को इससे आगे बढ़कर क्रांतिकारी परिस्थिति पैदा करने की "अनिवार्य शर्त" बनाता है, वह परले दरजे का मक्कार है। वह लेनिन की आड़ में अपने संशोधनवादी मंसूबों को अंजाम दे रहा है। और लिबरेशन चौथी पार्टी कांग्रेस में ठीक यही काम करता है!

चूंकि लिबरेशन ने इस चौथी कांग्रेस में राज्यों में सरकार बनाने का भी सवाल उठाया था, अतः उसे इस मामले में सी.पी.एम. की भी कुछ आलोचना करनी थी। वह उसने की। उसने राजनीतिक सांगठनिक रिपोर्ट में एक अध्याय ही इस पर दे दिया : "राज्यों में सरकार बनाने की सी.पी.आई. (एम) की कार्यनीति के बारे में।" अन्य बातों के अलावा इसमें निम्नलिखित "शिक्षाप्रद" बातें हैं जिनका पांचवीं कांग्रेस तक आते-आते खुद लिबरेशन को ही उल्लंघन करना था और सी.पी.एम. के स्तर तक उतर आना था।

> "जब इस कार्यक्रम (राज्यों में सरकार बनाने के बारे में सी.पी.एम. कार्यक्रम का पैरा 112—संपादक) को सूत्रबद्ध किया गया, तब पार्टी इन सरकारों की स्थिरता के बारे में पूरी तरह आश्वस्त नहीं थी, इसीलिए कार्यक्रम में कुछ कल्याणकारी कदमों का और उनके जरिए बेहतर भविष्य के लिए संघर्ष में जनता को जागृत करने का ही जिक्र किया गया है। **केन्द्र में ऐसी सरकार की गठन की संभावना से** इंकार किया गया। सी.पी.आई. से सी.पी.एम. का यही बड़ा अंतर था।"
>
> (वही, पृष्ठ 1.7.5, जोर मूल में)
>
> "अपने अस्तित्व की स्थितियों से मजबूर होकर वाम मोर्चा सरकार को **पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के प्रबन्धकों** की तरह बर्ताव करना पड़ा रहा है, अथवा उम्दा ढंग से कहा जाय तो उन्होंने **"संकटकालीन प्रबंधन कार्य"** अपना लिया है।"
>
> (वही, पृष्ठ 1.7.7, जोर मूल में)
>
> "फिर भी महत्वपूर्ण सवाल यह है कि आखिरकार ये सरकारें इतने वर्षों तक सत्ता में क्यों टिकी हुई हैं, शासक वर्ग इतनी सहजता से इन सरकारों को **जनता की चेतना व संगठन उन्नत करने** और पूंजीवादी भूस्वामी व्यवस्था की सीमाओं के बारे में जनता को शिक्षित करने का मौका कैसे दे रहा है?..."
>
> (वही, पृष्ठ 1.7.9, जोर मूल में)
>
> "... शासक वर्ग **सीमाबद्धताओं के बारे में शिक्षा** से तनिक भी नहीं घबराता है। ऐसी सरकारों की लम्बी कार्यावधि जनता को **संसदीय जनवाद की असीम संभावनाओं** के बारे में ही ज्यादा **शिक्षित** कर देती है। **राज्य व्यवस्था की सीमाबद्धताओं** के बारे में शिक्षा क्रमशः **राज्य सरकारों की सीमित सत्ता** और उसके बाद **राज्य सरकारों के सीमित राजकोष** के बारे में शिक्षा में तब्दील हो गई है।"
>
> (वही, पृष्ठ 1.7.9-1.7.10, जोर मूल में)
>
> "उत्तरदायी राज्य सरकारें चलाते हुए सी.पी.एम. को **अपने** भावी तर्कसंगत कदम के बतौर केन्द्र में, **जहां समस्त सत्ता निहित है,** सरकार बनाने का कार्यक्रम लेना ही होगा।..."
>
> (वही, पृष्ठ 1.7.10, जोर मूल में)

क्या विडम्बना है! जो सी.पी.आई. व सी.पी.एम. में "बड़ा अन्तर" था और जिसे सी.पी.एम. को तर्कसंगत कदम के बतौर अपने कार्यक्रम में लेना ही था, उसे सी.पी.एम. ने तो

औपचारिक तौर पर अभी भी नहीं लिया है, लेकिन लिबरेशन ने यह सब कहने के बाद पांच साल के अंदर ही उसे अपने कार्यक्रम में ले लिया। यानि उसने केन्द्र में "शांतिपूर्ण तरीके" से सत्ता पर कब्जा करने की बात अपने कार्यक्रम में दर्ज कर दी। लिबरेशन छलांग लगाते हुए 1992 में सी.पी.एम. से आगे निकल गया और सी.पी.आई. के समकक्ष जा खड़ा हुआ (निश्चय ही अपने संशोधनवाद को छिपाने की कोशिश में यदि-किन्तु-परन्तु लगाते हुए)। यही नहीं, राज्यों में सरकार बनाने के संबंध में उसने सी.पी.एम. की जो उपरोक्त आलोचना की थी, वह भी पांचवीं पार्टी कांग्रेस तक निरर्थक हो गई। वह पूर्णतया सी.पी.एम. की पोजीशन पर पहुंच गया। खुद उसे बुर्जुआ राज्यसत्ता ने "जनता की चेतना व संगठन उन्नत करने" की छूट दे दी। विनोद मिश्र बुर्जुआ मीडिया में शोभायमान होने लगे। बस किसी तरह राज्य विधानसभाओं की सत्ता गैलरी तक पहुंचने की कसर बाकी रह गई।

जब चुनावों और राज्यों में सरकार बनाने के बारे में लिबरेशन ने यह रुख अख्तियार कर लिया तो इसका असर उसके वाम जनवादी मोर्चे या "राष्ट्रीय विकल्प" या इसके व्यावहारिक रूप IPF पर पड़ना ही था। बल्कि तब तक चुनाव लड़े ही गये थे IPF के झंडे तले। जरा सुनें कि यह परिवर्तन कैसे हो रहा है :

> "हमारी प्रारंभिक अवधारणा में राष्ट्रीय महत्व के किसी मुद्दे पर पूंजीवादी विपक्ष तथा सामाजिक जनवादी विपक्ष की पार्टियों से कोई स्थायी संबंध अथवा सहयोग का रिश्ता कायम करने का कोई प्रावधान नहीं था। मगर...हाल में हमने इन पार्टियों से किसी न किसी किस्म का संबंध कायम करने के लिए प्रयास शुरू कर दिया है, खासकर बिहार में सी.पी.आई. व लोकदल से, कई राज्यों में जनता पार्टी से और पश्चिम बंगाल में वाममोर्चे में शामिल गैरी वामपंथी पार्टियों से।...
>
> "हमें इस बात का भी दरवाजा खुला रखना चाहिए कि जब भी राजनीतिक संकट का विकास ऐसी मांग करे तो हम वाम और जनवादी शक्तियों के एक व्यापक संघ जैसे संगठन में अथवा यहां तक कि किसी व्यापक कांग्रेस विरोधी संश्रय में, इन पार्टियों के साथ शामिल हो सकें।..."
>
> (वही, पृष्ठ 1.5.4-1.5.5)

लिबरेशन की इस नीति में और सी.पी.एम. की नीति में क्या कोई बुनियादी फर्क है? और इसकी जरा तीसरी कांग्रेस की नीति से तुलना करें। कितना नीचे गिरा है लिबरेशन महज पांच सालों की अवधि में!

पार्टी संगठन की सेहत के लिए इन संशोधनवादी कार्यनीतियों का नतीजा क्या निकलना था? यह खुद चौथी कांग्रेस के शब्दों में निम्नलिखित है :

> "किसी पूंजीवादी संस्था के साथ परस्पर क्रिया के दौरान क्रांतिकारी संगठनों के अंदर अनेक अस्वस्थ प्रवृत्तियां पनप उठती हैं। हमारा अनुभव भी यह दिखलाता है कि चुनाव लड़ने की प्रक्रिया में हमारे संगठन के अंदर वस्तुतः चंद गलत प्रवृत्तियां उभरी हैं। कई मामलों में हमारे उम्मीदवार व्यक्तिगत विजय के मंसूबे बांधने लगते हैं। कुछ मामलों में क्रांतिकारी प्रचार के स्तर को जान-बूझकर गिरा दिया गया, ताकि उससे वोटों की मात्रा न घट जाय। हमने यह भी देखा कि जीतने की खातिर कुछ गैर-उसूली संबंध बना लिए गये और यहां तक कि गलत तरीके भी अपनाए गये। दूसरी ओर, बूथ कब्जा रोकने के लिए जन समुदाय के प्रतिरोध में, जरूरत पड़े तो सशस्त्र प्रतिरोध में, गोलबंद करने का मुख्य कार्यभार नजरअंदाज कर दिया गया।"
>
> (वही, पृष्ठ 1.7.2)

और यह सब एकदम शुरूआत में ही! संसदीय रास्ते पर पहला कदम बढ़ाते ही! लेकिन लिबरेशन अपने कदम पीछे नहीं खींच सकता था क्योंकि संशोधनवाद उपरोक्त चीजों से परेशान नहीं होता। सारे भ्रष्टाचार के बावजूद क्या कभी बुर्जुआ को संसदीय व्यवस्था से परेशान होते देखा गया है!

(ग) पांचवीं कांग्रेस

लिबरेशन की संसदीय यात्रा बहुत जल्दी ही पूरी हो गई। 1985 में संसदीय रास्ते का इस्तेमाल करने की बहस करने वाला लिबरेशन 1992 तक आते-आते "शांतिपूर्ण संक्रमण" की संभावना तक पहुंच गया। सी.पी.एम. की जो यात्रा 1964 में शुरू होकर औपचारिक तौर पर आज तक अधूरी है (वास्तविक तौर पर वह पूरी हो चुकी है), उसे लिबरेशन ने महज सात सालों में पूरा कर लिया। 1982 में "आधार इलाका", "सशस्त्र संघर्ष" और "क्रांतिकारी ज्वार" की बात करने वाला लिबरेशन 1992 में "शांतिपूर्ण संक्रमण" तक पहुंच गया।

जैसा कि पहले ही उद्धृत किया जा चुका है ("शांतिपूर्ण संक्रमण" के बारे में पांचवीं कांग्रेस की चर्चा), पांचवीं कांग्रेस तक आते-आते लिबरेशन ने न केवल प्रदेशों में बल्कि खुद केन्द्र में भी सरकार बनाने की बात स्वीकार कर ली और उसे पांचवीं पार्टी कांग्रेस द्वारा स्वीकृत कार्यक्रम में दर्ज कर लिया। चौथी कांग्रेस की तरह अब प्रदेशों में सरकार बनाना कोई सवाल नहीं रह गया था। अब वह दृढ़ कार्यनीति बन चुकी थी। बल्कि लिबरेशन के "क्रांतिकारी रास्ते" का यह सबसे बड़ा हिस्सा बन चुकी थी।

यह कार्यनीति सी.पी.एम. की कार्यनीति से अपने सारतत्व में कितना मिलती है, इसे स्थापित करने के लिए हम सी.पी.एम. के कार्यक्रम का प्रसिद्ध पैरा 112 जस का तस उद्धृत कर दे रहे हैं :

> "112. पार्टी को स्पष्टतः तेजी से बदलती हुई राजनीतिक परिस्थिति की आवश्यकताओं को पूरा करने के विभिन्न अन्तरिम नारे निर्धारित करने होंगे। जनता के सामने वर्तमान शासक वर्गों को सत्ता से हटाने और मजदूर वर्ग तथा किसानों की दृढ़ मित्रता पर आधारित नये जनतांत्रिक राज्य और सरकार की स्थापना का काम पेश करते हुए भी, पार्टी जनता को फौरी राहत देने के न्यूनतम कार्यक्रम को पूरा करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध सरकार स्थापित करने के लिए आने वाले सभी अवसरों का उपयोग करेगी। ऐसी सरकारें की स्थापना मेहनतकश जनता के क्रांतिकारी आंदोलन को बहुत तेजी प्रदान करेगी और इस प्रकार जनतांत्रिक मोर्चा बनाने की प्रक्रिया में सहायक होगी। लेकिन इससे राष्ट्र की आर्थिक व राजनीतिक समस्याएं किसी बुनियादी तौर पर हल नहीं होंगी। अतः पार्टी, संक्रमणात्मक चरित्र की ऐसी सरकारों की जो जनता को फौरी राहत देती हैं और इस तरह जन आंदोलन मजबूत करती हैं, स्थापना के सारे अवसरों का उपयोग करने के साथ-साथ बड़े पूंजीपति वर्ग के नेतृत्व में चलने वाले वर्तमान पूंजीपति-जमींदार राज्य और सरकार को पदच्युत करने की जरूरत के बारे में जनगण को प्रशिक्षित करती रहेगी।"
>
> (पार्टी कार्यक्रम, भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), पृष्ठ 49)

क्या इस कार्यक्रम में और लिबरेशन के उपरोक्त कार्यक्रम में कोई भी फर्क है, सिवाय शब्दावली के? बल्कि सी.पी.एम. का यह कार्यक्रम क्या से ज्यादा "क्रांतिकारी" नहीं है? क्या वह ज्यादा "किन्तु-परन्तु" नहीं लगाता? लेकिन इन सबके बावजूद लिबरेशन यह चाहता है

कि लोग इसकी इस कार्यनीति को सी.पी.एम. की कार्यनीति से भिन्न कार्यनीति मानें और वह इसके लिए "दो कार्यनीतियों" की चर्चा करता है। क्या यह धोखाधड़ी मात्र नहीं हैं? क्या शब्द बदल देने मात्र से ही अंतर्वस्तु बदल जायगी?

लिबरेशन जानता है कि वह सी.पी.एम. की अवस्थिति पर आ खड़ा हुआ है। वह यह भी जानता है कि सारे लोग उसे इसी रूप में देखते हैं। ऐसे में वह कुछ स्वीकारोक्ति करके बच निकलना चाहता है :

> "...हम अपने संपूर्ण क्रांतिकारी परिप्रेक्ष्य में सी.पी.आई. (एम) द्वारा छोड़ी गई कुछ स्थितियों—जैसे संघर्ष के हथियार के बतौर कुछ राज्यों में वाम के नेतृत्व में सरकार बनाने की अवधारणा को समाहित करने की ओर बढ़े हैं।..."
>
> (राजनीतिक सांगठनिक रिपोर्ट, पृष्ठ 38)

लेकिन यह बात सच नहीं है। माकपा ने अपनी कोई पोजीशन नहीं छोड़ी है। वह पिछले 35 सालों से अपनी उसी "सैद्धान्तिक" पोजीशन पर खड़ी है और वह उसी के अनुसार व्यवहार करती रही है। जो हुआ है, वह केवल यह कि व्यवहार ने अंधे को भी उसके संशोधनवादी चरित्र को देखने को मजबूर कर दिया है। ऐसे में यह कहना कि माकपा ने जो पोजीशन छोड़ी है, उसे हम समाहित करने की ओर बढ़े हैं, सीधे-सीधे चालबाजी है। संशोधनवादी माकपा की आज भी वही संशोधनवादी कार्यनीतियां हैं जिसे आज आप भी अपना रहे हैं। बस! बात इतनी ही हैं। इसे न स्वीकार कर आप इधर-उधर की बातें कर लोगों को भ्रम में डालना चाहते हैं, मानों सी.पी.एम. पहले किसी क्रांतिकारी पोजीशन पर खड़ी थी जो उसने छोड़ दी और आप उसे अपना रहे हैं। आप यह क्यों नहीं बताते कि सी.पी.एम. की छोड़ी गई इन स्थितियों का चरित्र क्या था—वे क्रांतिकारी थीं या संशोधनवादी? यदि वे क्रांतिकारी थीं तो सी.पी.एम. संशोधनवादी कैसे है? और यदि वे संशोधनवादी थीं तो उन्हें अपना कर आप क्या साबित कर रहे हैं? या क्या आप यह कहना चाहते हैं कि ये कार्यनीतियां संशोधनवादी या क्रांतिकारी की श्रेणी में नहीं आतीं? ये इन श्रेणियों से ऊपर हैं? चाहे जिधर से भी देखें, आपका यह वक्तव्य आपको केवल संशोधनवादी ही साबित करता है।

कुछ अपने को अलग दिखाने के लिए और कुछ जनता की निगाहों में धूल झोंकने के लिए लिबरेशन अपनी इन प्रादेशिक सरकारों के बारे में कहता है :

> "ऐसी सरकारें निस्संदेह केन्द्रीय सत्ता के खिलाफ व्यापक क्रांतिकारी विपक्ष का अंग बन जायंगी"

हम आपसे इस बिन्दु पर वही सवाल पूछना चाहते हैं जो आपने अपनी चौथी कांग्रेस में सी.पी.एम. से पूछा था कि "शासक वर्ग इतनी सहजता से इन सरकारों को जनता की चेतना व संगठन उन्नत करने और पूंजीवादी भूस्वामी व्यवस्था की सीमाओं के बारे में जनता को शिक्षित करने का मौका" कैसे देगा? क्या उल्टे "इन सरकारों की लम्बी कार्यावधि जनता को संसदीय जनवाद की असीम संभावनाओं के बारे में ही ज्यादा शिक्षित" नहीं कर देगी? क्या यह सच नहीं है कि "शासक वर्ग सीमाबद्धताओं के बारे में इस शिक्षा से जरा भी नहीं घबराता"? क्या यह सच नहीं है कि शासक वर्ग की लगातार यह "रणनीति रही है कि एक उत्तरदायी सरकार बन जाने के लिए उन पर लगातार दबाव" डाले? क्या "पूंजीवादी भूस्वामी व्यवस्था के अंदर इतना लचीलापन मौजूद नहीं है कि वह कदम-ब-कदम वाम सरकार को अपने अंदर पचा ले"?

क्या यह बात सच नहीं है कि ये सरकारें वास्तव में "पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के प्रबन्धकों की तरह बर्ताव" करेंगी? अथवा उम्दा ढंग से कहें तो वे "संकटकालीन प्रबंधन कार्य" करेंगीं? क्या यही वे बुनियादी सवाल नहीं हैं जिन पर "सी.पी.एम. कभी चर्चा नहीं करती" और अब जिन पर आप चर्चा नहीं करना चाहते बल्कि आप खुद अपने द्वारा ही चौथी कांग्रेस में उठाये गये इन सवालों को अब उठाना नहीं चाहते?

इन सारे सवालों का बस एक ही जवाब है, वह यह कि प्रादेशिक सरकारों का "क्रांतिकारी विपक्ष का अभिन्न अंग" बनने की बात एकदम बकवास है। यदि इस बात की सम्भावना होगी तो केन्द्रीय बुर्जुआ सरकार इन सरकारों को बनने ही नहीं देगी। यदि बन भी गईं तो चलने नहीं देगी। इसके लिए बुर्जुआ वर्ग के पास सैकड़ों कानूनी और गैर-कानूनी हथियार मौजूद हैं। जो कोई भी बुर्जुआ वर्ग के इन कानूनी और गैर कानूनी हथकण्डों की मौजूदगी से इंकार करता है और यह कहता है कि क्रांतिकारी प्रादेशिक सरकारें बन जाएगी और वे "व्यापक क्रांतिकारी विपक्ष का अभिन्न हिस्सा बन जाएगी" वह खुल्लमखुल्ला बुर्जुआ वर्ग का चाकर बन चुका है और इसीलिए उनके वास्तविक चरित्र के बारे में यह भ्रम फैला रहा है। इसी भ्रम को और आगे बढ़ाकर वह यहां तक पहुंचा देता है कि "केन्द्रीय सत्ता पर अपेक्षाकृत शांतिपूर्ण" ढंग से क़ब्जा करना संभव है। सर्वाधिक गर्हित बात यह है कि लिबरेशन यह सारा "शांतिपूर्ण" संक्रमण उस देश में करना चाहता है जहां खुद उसके हिसाब से नयी जनवादी क्रांति होनी है तथा जहां जनवाद का अभाव है। एक ओर जनवाद का अभाव और दूसरी ओर "शांतिपूर्ण" संक्रमण! प्रादेशिक सरकारों का "क्रांतिकारी विपक्ष का अभिन्न अंग बनना! जबकि दुनिया के सारे कम्युनिस्ट जानते हैं कि सबसे "स्वतंत्र" और सबसे "जनवादी" देशों में भी ऐसा संभव नहीं है। जो सबसे "स्वतंत्र" और सबसे "जनवादी" देशों में भी संभव नहीं है वह भारत जैसे "अर्द्ध सामंती" देश में जनवादी तरीके से हो जाएगी। गोकि जो होनी है वह खुद नई जनवादी क्रांति ही होनी है। क्या पैराडाक्स है? या कि यह लिबरेशन का द्वन्दवाद है? नई जनवादी क्रांति एक जनवाद विहीन या सीमित जनवाद वाले देश में चुनावी जनवादी तरीके से हो जायगी! लेकिन इसमें आश्चर्य नहीं! संशोधनवादियों की यह नियति है कि वे ऐसे ही बेहूदे अंतर्विरोधों में अपने को फंसा लें।

यहां एक बात साफ-साफ, गौरतलब है। चौथी कांग्रेस में तब भी व्यवस्था के भंडाफोड़ की बात दबी जुबान से की गई थी (जैसे कोई पापी अपनी शांति के लिए कुछ पुण्य श्लोक दुहरा लेता है) लेकिन पांचवीं कांग्रेस तक आते-आते इसका नामो-निशान मिट गया। अब यह बातें भूले से भी नहीं की जातीं कि चुनावों में भागीदारी का मतलब संसद के बाहर और भीतर दोनों से भंडाफोड़ कर बुर्जुआ संसदीय व्यवस्था को ध्वस्त करना है, उसे राजनीतिक तौर पर जनता की निगाहों में कालातीत बनाना है। अब तो बस जो है वह चुनाव लड़कर केन्द्र व राज्यों में सरकार बनाने की बातें हैं। यदि अमूर्त में कुछ है तो "जनचेतना" बढ़ाने की बात। क्या इस "जनचेतना" में बुर्जुआ संसदीय व्यवस्था के भंडाफोड़ की बात कहीं आती है? यदि आती है तो उसे कहने से इतना क्यों डरता है लिबरेशन? किससे डर है उसे? क्या बुर्जुआ वर्ग से कि तब वह उसे चुनाव नहीं लड़ने देगा? यदि यह बात है तब क्या यह बुर्जुआ वर्ग के कानून के सामने नतमस्तक होना नहीं है? इस तरह नतमस्तक हुआ संगठन क्या कभी क्रांति करने की सोच भी सकता है? क्या कम्युनिस्टों ने हमेशा बुर्जुआ कानूनों के सामने नतमस्तक होने

से इंकार नहीं किया है? क्या उन्होंने हमेशा इसके लिए सैकड़ों तरीके ईजाद नहीं किये हैं? क्या खुद पहले लिबरेशन यह काम नहीं कर रहा था (जब वह क्रांतिकारी था)? क्या यह क्रांति का क-ख-ग नहीं है? लेकिन नहीं! चूंकि लिबरेशन को यह सब नहीं करना है, चूंकि उसे बुर्जुआ वर्ग की सेवा करनी है, अतः उसे इस बात की जरूरत नहीं कि वह यह सब करे। वह क्रांति की बात औपचारिक तौर पर दुहराते हुए अपने को बुर्जुआ कानून के हवाले कर देगा—सिद्धान्त में भी और व्यवहार में भी। समूची पार्टी को खोलने का मतलब उसे बुर्जुआ कानून के हवाले कर देना ही होता है। अपने को बुर्जुआ की मर्जी पर छोड़ देना होता है। कोई क्रांतिकारी ऐसा नहीं कर सकता है। केवल लाईलाज संशोधनवादी ही ऐसा कर सकता है।

बुर्जुआ दायरे में खुद को समाहित कर लेने के बाद इनकी संयुक्त मोर्चे की अवधारणा में भी और अधिक परिवर्तन आना लाजिमी था। तीसरी कांग्रेस में इनका मोर्चा मूलतः गैर संसदीय तथा गैर शासक पार्टियों को लेकर बनना था। इसमें केन्द्रीय और प्रादेशिक स्तर पर सक्रिय बुर्जुआ व संशोधनवादी पार्टियों के लिए कोई स्थान नहीं था। चौथी कांग्रेस में आकर उन्होंने कुछ बुर्जुआ व संशोधनवादी पार्टियों के साथ मुद्दा आधारित संयुक्त मोर्चा बनाना शुरू कर दिया। चुनावों में भी गठबंधन की उन्होंने छूट दे दी। पांचवीं कांग्रेस तक आते-आते यह प्रक्रिया भी पूरी हो गई। वे इन पार्टियों से मुद्दा आधारित संयुक्त मोर्चा से संस्थागत सहयोग तक बढ़ गये। "राष्ट्रीय राजनीति की मुख्य धारा" में इनका संक्रमण पूरा हो गया :

> "पिछले पांच वर्षों के दौरान विभिन्न शक्तियों के साथ हमारी अंतःक्रिया कई गुना बढ़ी है। **मुद्दा आधारित संयुक्त कार्यवाही** से हम **संस्थागत सहयोग** की ओर बढ़ रहे हैं और यह विभिन्न पार्टियों की सैद्धान्तिक अवधारणाओं मे भी प्रतिबिम्बित हुआ है।
> "सी.पी.आई. (एम) की चौदहवीं कांग्रेस ने सी.पी.आई. (एम एल)—लिबरेशन, आइ.पी.एफ. तथा कुछ नक्सलपंथी संगठनों के प्रति एक **सकारात्मक रुख** की बात की थी। सी.पी.आई. और फारवर्ड ब्लाक के प्रतिनिधि आइ.पी.एफ. के विजयवाड़ा सम्मेलन में उपस्थित थे तथा सी. पी.आई. ने भी अपनी हैदराबाद कांग्रेस में उन्हें आमंत्रित करके जवाब दिया।"
>
> (राजनीतिक सांगठनिक रिपोर्ट, पृष्ठ 36, जोर हमारा)

आपका चरित्र क्या है, इसको जांचने का एक तरीका यह भी है कि आपके दोस्त और दुश्मन कौन हैं। उपरोक्त उद्हरण से लगता है कि भाकपा, माकपा व फारवर्ड ब्लाक जैसे संगठनों का रुख लिबरेशन के प्रति बदला है। उनका इसके प्रति रुख **सकारात्मक** हुआ है। अब, भाकपा व माकपा पुराने और घोषित संशोधनवादी हैं। यदि उनका रुख लिबरेशन के प्रति **सकारात्मक** हुआ है तो क्या इसका सीधा सा मतलब नहीं है कि लिबरेशन खुद संशोधनवादी होकर वहीं पहुंच गया है, जहां भाकपा व माकपा पिछले पैंतीस-चालीस साल से खड़े हैं? या कि लिबरेशन हमें यह बताना चाहता है कि पिछले दिनों में भाकपा और माकपा क्रांतिकारी हो गये हैं? यदि ऐसा है तो क्या लिबरेशन इस बात को खुलकर कहने का साहस रखता है?

इसी बात को राजनीतिक सांगठनिक रिपोर्ट एक जगह दूसरे शब्दों में दुहराती है :

> "खासकर **समाजवादी संकट के मौजूदा दौर में** हम इस **सकारात्मक विकास** का स्वागत करते हैं और **वाम एकता की प्रक्रिया** को आवेग देने तथा इसे स्थाई बनाने की दृष्टि से ग्रासरूट स्तर पर वर्गीय आधार पर वाम कतारों के बीच एकता को सुदृढ़ करने की चेष्टा करते हैं।"
>
> (वही, पृष्ठ 37, जोर हमारा)

यह पूरा वक्तव्य संशोधनवादियों के चरित्र के बिल्कुल अनुरूप है। पहली बात तो यह

कि "समाजवादी संकट का मौजूदा दौर" का क्या मतलब है? यह संकट कहां से पैदा हो गया? निश्चय ही यह संकट उन लोगों के लिए पैदा हुआ है जो सोवियत संघ व पूर्वी यूरोप के देशों को समाजवादी मानते थे और जिनके पतन को उन्होंने "समाजवाद का पतन" माना। लेकिन यह तो संशोधनवादियों का पतन था। उसे समाजवाद का पतन या संकट क्यों माना जाय? हम पहले ही देख चुके हैं कि लिबरेशन कैसे खुद संशोधनवादी संगठन में पतित हो गया और कैसे उसने इन देशों में "समाजवाद" की मौजूदगी को स्वीकार कर लिया था।

दूसरा, यह कि यदि कभी विचारधारा का संकट पैदा होता है तो सबसे पहला काम यही बनता है कि सही और गलत विचारधारा में स्पष्ट विभाजक रेखा खींची जाय। यहीं से सही विचारधारा पर आधारित नये संगठन खड़े होते हैं और संकट के समाधान की शुरूआत होती है। द्वितीय इंटरनेशनल के पतन के बाद लेनिन ने ठीक यही किया। काउत्स्की, प्लेखानोव जैसे लोगों को दरकिनार कर उन्होंने मार्क्सवादियों और संशोधनवादियों-अवसरवादियों के बीच साफ विभाजक रेखा खींची। यही नहीं, उन्होंने न केवल मध्यमार्गियों बल्कि सही विचारधारा से थोड़ा भी विचलन करने वालों की तीखी भर्त्सना की। इन्हीं सही विचारधारा पर खड़े लोगों को लेकर उन्होंने तीसरे इंटरनेशनल की स्थापना की जिसकी प्रवेश के शर्तों में से एक यह भी थी कि प्रवेश की इच्छुक किसी भी पार्टी को मध्यमार्गियों से पूर्ण संबंध विच्छेद करना पड़ेगा, अवसरवादियों से संबंध विच्छेद की तो बात ही क्या।

और अब, कम्युनिस्टों के उस उसूल और व्यवहार के बाद लिबरेशन सामने आता है और कहता है कि हमें विचारधारा की रक्षा के लिए, समाजवाद के संकट से उबरने के लिए घोषित संशोधनवादियों से वाम एकता स्थापित कर लेनी चाहिए। एक ओर लेनिन हैं, जो विचारधारा की रक्षा के लिए, समाजवाद के पुनर्जीवन के लिए मध्यमार्गियों तक से पूर्ण संबंध विच्छेद की शर्त रखते हैं, दूसरी ओर लिबरेशन है जो विचारधारा की रक्षा के लिए, समाजवाद के संकट से उबरने के लिए पहले से खींची विभाजक रेखाओं को तोड़कर, पहले से मौजूद सांगठनिक विभाजन को खत्म कर संशोधनवादियों से "वाम एकता" करना चाहता है! और तब भी यह चाहता है कि लोग इसे संशोधनवादी न मानें!

पार्टी के "संसदीय रास्ते" में इस कदर डूब जाने का परिणाम इसके विधायकों/सांसदों और आम पार्टी कार्यकर्त्ताओं के चरित्र में झलकना ही था। इसकी अभिव्यक्ति इस प्रकार हुई :

> "इसके आगे-पीछे (1991-संपादक) कार्यकर्त्ताओं का एक हिस्सा हमें छोड़कर जनता दल की ओर पलायन कर गया। एक-दो विधायकों अथवा सांसदों का पलायन अपने-आपमें कोई अनोखी घटना नहीं है। विवाद्य बिन्दु तो है **इन गद्दारों के विरुद्ध कोई शक्तिशाली जनप्रतिरोध संगठित करने में संबंधित चुनाव क्षेत्रों के संगठनों की विफलता।**"
>
> (वही, पृष्ठ 46, जोर हमारा)
>
> "चुनावों में भागीदारी अपने साथ बहुतेरी पूंजीवादी बुराइयों को भी लाया है जिन्होंने **कुछ स्थानों में खतरनाक आयाम ग्रहण कर लिया है।** विधानसभा अथवा संसद की सदस्यता को एक लाभप्रद कैरियर के बतौर देखा जाता है, एक विशेष पार्टी कर्त्तव्य के बतौर नहीं तथा **बहुतेरे व्यक्ति टिकट के लिए खुल्लमखुल्ला होड़ करते नजर आते हैं।** दृढ़ राजनीतिक और सांगठनिक कार्य और राजनीतिक मुहिमों को महज ऊर्जा की बर्बादी के बतौर देखा जाता है। **इसके बदले**

कई व्यक्ति बड़ी मेहनत के साथ जातीय समीकरणों का हिसाब-किताब करते और हवाई किले बनाते देखे जा सकते हैं। इन सबने **गैर उसूली संश्रयों, अवसरवादी प्रचार और चुनावी भ्रष्टाचार को जन्म दिया है।** सांसदों और विधायकों को पूंजीवादी व्यवस्था जो विशेष सुविधाएं देती हैं **उसने संगठन के भीतर भी उनके लिए एक विशेष स्थान बना दिया है।** इनमें से कुछ की जीवन शैली में स्पष्ट पतन हुआ है। इसके अतिरिक्त प्रसिद्धि और चमक (ग्लैमर) की भी समस्या है जो अहंकार बढ़ाती है। यह बदले में अक्सर बहुतेरी राजनीतिक गलतियों का स्रोत बन जाती है।"

(वही, पृष्ठ 47, जोर हमारा)

और इसके बाद भी लिबरेशन की ख्वाहिश है कि भारतीय मेहनतकश जनता यह विश्वास करे कि उसमें और सी.पी.एम. में फर्क है और उसका हश्र सी.पी.एम. से भिन्न होगा!

(घ) छठीं कांग्रेस

जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, लिबरेशन की "संसदीय रास्ते" पर यात्रा पांचवीं कांग्रेस तक ही पूरी हो चुकी थी। अब तो उसे महज उसी रास्ते पर चलना भर है और इस रास्ते में आने वाली रुकावट को एक-एक कर खत्म कर देना है।

चूंकि पार्टी 1992 तक खुले तौर पर काम करना शुरु कर चुकी थी तथा उसने अपने नाम से ही चुनाव लड़ने का फैसला कर लिया था अतः IPF की अब कोई उपयोगिता नहीं बची थी। वैसे भी लिबरेशन के संशोधवादी संगठन में पतन के बाद उसकी कई संकीर्णतावादी नीतियों के चलते IPF 1988 आते-आते लिबरेशन का मुखौटा भर रह गया था। उसके वास्तविक तौर पर मोर्चा संगठन बनने की सारी संभावनाएं खत्म हो गई थीं। ऐसे में 1992 के बाद वह पार्टी के लिए निरर्थक और यहां तक कि बाधक बन गया था। पार्टी वह सारे काम कर रही थी जो पहले IPF कर रहा था। यहां तक कि दोनों के औपचारिक कार्यक्रम में भी कोई भेद नहीं रह गया था। तब पार्टी के नेताओं ने जरूरी समझा कि अपने रास्ते की इस बाधा को हटा दिया जाय। यह और भी जरूरी इसलिए हो गया था कि कुछ लोगों ने और आगे बढ़कर लिबरेशन को भंग करके उसकी जगह IPF के नाम से ही काम करने की वकालत करनी शुरू कर दी थी।

यहां इस बात पर जोर देना आवश्यक है कि IPF की अवधारणा अपने-आप में गलत नहीं थी। IPF का जो भी हश्र हुआ, वह उसकी अवधारणा में किसी गलती के चलते नहीं बल्कि उसको बड़ा करने वाले पार्टी संगठन—लिबरेशन—के पतन के कारण हुआ। पहले लिबरेशन ने IPF के प्रति संकीर्णतावादी रुख अपनाया। इसके कारण लिबरेशन को छोड़कर बाकी सारे लोग और संगठन IPF से अलग हो गये। 1988 तक उसमें केवल लिबरेशन के लोग ही रह गये। तब वह लिबरेशन का मुखौटा संगठन बन कर रह गया था क्योंकि लिबरेशन उस समय तक भूमिगत था और वह खुले कार्यों के लिए IPF का इस्तेमाल कर रहा था। इसके बाद दूसरा दौर शुरु हुआ। संशोधनवादी होने के बाद लिबरेशन पार्टी संगठन का पतन शुरु हो गया। एक तो उसने अपने सांगठनिक मापदंड एकदम ढीले कर दिए और दूसरे उसने अपने को खोल दिया। अब हर ऐरा-गैरा नत्थू खैरा लिबरेशन का सदस्य हो गया और वह खुलेआम काम करने लगी। चूंकि IPF के भी यही सारे लोग सदस्य थे और वह पहले से ही खुला संगठन था, अतः IPF,

लिबरेशन पार्टी संगठन का दुहराव मात्र रह गया (दोनों के फौरी कार्यक्रम तो समान थे ही)। ऐसे में केवल एक ही जिन्दा रह सकता था। या तो लिबरेशन पार्टी संगठन या IPF।

"पार्टी के खुले रूप में आने और आइ.पी.एफ. के सिर्फ इसका दुहराव भर रह जाने के बाद उसे भंग कर देने का निर्णय लिया गया। तब से हम एक नये धरातल पर जनवादी मोर्चे के निर्माण की दिशा में काम कर रहे हैं।"

(राजनीतिक सांगठनिक रिपोर्ट, पृष्ठ 17)

ऐसा ही एक नया जनवादी मोर्चा उन्होंने "राष्ट्रीय जन मोर्चा" के नाम से बनाया जिसमें जार्ज फर्नांडीज भी शामिल हुए। ये वही जार्ज फर्नांडीज हैं जो बाद में भाजपा गठबंधन में रक्षामंत्री बने। यही शायद वे "समाजवादी" भी हैं जिन्हें साथ लेने की और उनके साथ एकता करने की बात पार्टी कार्यक्रम करता है। क्या पतन है लिबरेशन का! लेकिन तब भी ये बेहया यह कह कर इस सारी घटना से पिण्ड छुड़ा लेते हैं :

"हम समाजवादियों के एक हिस्से के साथ जनवादी मोर्चा कायम करने और उसके साथ चुनावी समझौते पर पहुंचने के प्रयास को कोई गलती नहीं मानते।...

.....

"तथापि, जैसा कि घटनाओं से सिद्ध हुआ, बिहार के बदलते राजनीतिक वातावरण में हमने रैडिकल समाजवादियों की ऐसी किस्मों के भाजपा खेमे में चले जाने की संभावनाओं को घटाकर आंका था और इसीलिए उनके साथ लम्बे अरसे के सहयोग की हमारी धारणा सही नहीं थी।"

(वही, पृष्ठ 18)

जहां तक "वाम महासंघ" का सवाल है, उन्होंने तब तक के लिए इसे मुल्तवी कर दिया तब तक "वाम" भाकपा व माकपा संयुक्त मोर्चे की सरकार से बाहर नहीं आ जाते। ऐसा लिबरेशन के लिए जरूरी था, नहीं तो वह भी पूर्णतया नंगा हो जाता।

इस कांग्रेस ने चुनावों के बारे में एक कार्यनीतिक लाइन भी स्वीकार की। यह पांचवीं कांग्रेस की लाइन का ही सूत्रीकरण था। इसका सबसे महत्वपूर्ण अंश इस प्रकार है :

"... चुनाव में हिस्सेदारी के पीछे बुनियादी उद्देश्य है स्वतंत्र राजनीतिक शक्ति के बतौर मेहनतकशों की दावेदारी को बढ़ाने और विभिन्न क्षेत्रों में वैकल्पिक नीतियों को सामने लाने के लिए जोरदार चुनाव अभियान छेड़ना।..."

(भाकपा (माले) के नीति संबंधी प्रस्ताव, छठां पार्टी महाधिवेशन, पृष्ठ 9)

मेहनतकशों की दावेदारी? कहां? किस चीज में? क्या बुर्जुआ सत्ता में? क्या यह प्रकारान्तर से यह कहना नहीं है कि आप बुर्जुआ सत्ता में "दावेदारी" चाहते हैं, बुर्जुआ सत्ता का खात्मा नहीं? और बुर्जुआ वर्ग यही तो चाहता है कि विरोधी वर्ग केवल उसकी सत्ता में "दावेदारी" की सोचें, उस सत्ता को नष्ट करने की नहीं। आप, बुर्जुआ के एजेन्ट, मेहनतकशों को ठीक यही "दावेदारी" वाला उपदेश दे रहे हैं। बुर्जुआ आपकी पीठ नहीं ठोकेगा तो और क्या करेगा?

"विभिन्न क्षेत्रों में वैकल्पिक नीतियां सामने लाना"? वह कौन सिरफिरा था जिसने कहा था कि हम चुनावों का उपयोग बुर्जुआ व्यवस्था के सामान्यतया और बुर्जुआ संसदीय व्यवस्था के विशेषकर भंडाफोड़ करने के लिए करेंगे? वह कौन "काल्पनिक समाजवादी" था जो सभी बुर्जुआ संस्थाओं को बाहर व भीतर से तोड़ने के लिए चुनावों के इस्तेमाल की बात करता था? जो भी हो उसे पकड़कर लिबरेशन के पास भेज दिया जाना चाहिए कि वह इसके पार्टी स्कूल में "मार्क्सवाद" की शिक्षा ग्रहण कर चुनावों के बारे में यह "मार्क्सवादी" रुख आत्मसात कर ले।

इसी दस्तावेज में "दो कार्यनीतियों की लड़ाई" शीर्षक में यह शानदार बात कही गई है :

> "... मौजूदा व्यवस्था का इस्तेमाल करना और मौजूदा संस्थाओं में तोड़ फोड़ करने के हर साम्राज्यवादी व फासीवादी प्रयास के खिलाफ लड़ना एक बात है और इस मामले में हम अराजकतावादियों के खिलाफ हैं।..."
>
> (वही, पृष्ठ 10)

यहां "अराजकतावादियों" का मतलब कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों से है। इस वक्तव्य का मतलब यह निकलता है कि कम्युनिस्ट क्रांतिकारी जब बुर्जुआ संस्थाओं को ध्वस्त करने की बात करते हैं तो वे वही कार्य कर रहे हैं जो साम्राज्यवादी या फासीवादी करते हैं और इसीलिए लिबरेशन इनके खिलाफ लड़ता है। लिबरेशन बड़ी अच्छी बात करता है! वह साम्राज्यवादियों व फासीवादियों के हमलों से बुर्जुआ संस्थाओं ("मौजूदा संस्थाओं") को बचाता है। उसकी "मौजूदा" याने बुर्जुआ संस्थाओं को बचाने की चिन्ता खुद बुर्जुआ से भी ज्यादा है। लेकिन लिबरेशन इन्हें ध्वस्त करने की बात एक बार भी क्यों नहीं करता! क्या इन्हें ध्वस्त किये बिना क्रांति और सर्वहारा संस्थाओं का निर्माण संभव है? बुर्जुआ संस्थाओं के इस्तेमाल की बार-बार बात करना, उसको बचाने की बात करना, लेकिन उनके भंडाफोड़ या उन्हें ध्वस्त करने की एक बार भी बात न करना क्या दर्शाता है? क्या यह बुर्जुआ वर्ग के लिए सबसे प्रीतिकर नहीं है? मत करिये आप बुर्जुआ संस्थाओं का गुणगान। मत मानिए आप उन्हें पवित्र। मत करिये उनमें सुधार की बात। लेकिन आप उनके भंडाफोड़ और उनको ध्वस्त करने की बात भी मत करिये। ऐसे में बुर्जुआ को क्या परेशानी है? यह तो उसके लिए बहुत अच्छी बात है। आप इनके भंडाफोड़ और ध्वस्त करने की बात न कर केवल इस्तेमाल करने की बात करते रहिए, बुर्जुआ व्यवस्था मजे में चलती रहेगी। जब कभी इन पर खतरा आयेगा तब, साम्राज्यवादियों, फासीवादियों, "अराजकतावादियों" से इन बुर्जुआ संस्थाओं को बचाने के नाम पर आप आगे आ ही जाएंगे। बुर्जुआ को और क्या चाहिए? माकपा पश्चिम बंगाल में पिछले 23 साल से यही तो कर रही है और फिर भी आप कहेंगे कि आपकी कार्यनीति माकपा की कार्यनीति से अलग है और आप "दो कार्यनीतियों की लड़ाई" लड़ रहे हैं। पाखंड की भी कोई सीमा होती है!

लिबरेशन के इस पाखंड के कारण इसका सांगठनिक पतन और बढ़ा है। छठीं पार्टी कांग्रेस की राजनीतिक सांगठनिक रिपोर्ट कहती है :

> "1991 के संसदीय चुनावों में हमारा चुनावी समर्थन काफी घट गया और 1993 में आइपीएफ के सात में से चार विधायक तथा जहां-तहां हमारे कई निम्न व मध्यम स्तर के कार्यकर्त्ता पार्टी का त्याग करके जनता दल में शामिल हो गये।"
>
> (वही, पृष्ठ 24)
>
> "सरकार से ज्यादा अधिकार की छूटें झटक लेने की दौड़ में एसएसडी नेतृत्व ने केन्द्र व राज्य सरकारों के प्रति राजनीतिक अवसरवाद दिखलाया और यह संसद में उनके सांसद द्वारा तथा विधान सभा में उनके विधायकों के एक हिस्से द्वारा किए गये मतदान में प्रतिबिंबित हुआ।"
>
> (वही, पृष्ठ 55)
>
> "जिला परिषद (कार्बी आंग्लांग जिला परिषद—संपादक) में लम्बे अरसे से सत्ता में रहने के कारण बहुतेरी जटिलताएं पैदा हुई हैं। सुविधापूर्ण जीवन शैली, जिला परिषद के सदस्यों और अधिशासी सदस्यों के इर्द-गिर्द नौकरशाहों-ठेकेदारों-व्यवसायियों का जाल बिछ जाना, पार्टी और एसएसडी का जिला परिषद का दुमछल्ला बन जाना, जन समुदाय और जन-आंदोलनों से अलगाव, गुटीय झगड़े इत्यादि कुछेक ऐसी चीजें हैं, जिनका उल्लेख किया जा सकता है। यद्यपि हमने भारी बहुमत से चुनाव जीते हैं, लेकिन जनता की नजरों में संगठन का नैतिक प्राधिकार गिरा है।"
>
> (वही, पृष्ठ 34)
>
> "कई लोग पार्टी की संसदीय कार्यनीति के क्रांतिकारी परिप्रेक्ष्य को नहीं समझ पाते। व्यक्तिगत स्तर पर वे **सीट को एक किस्म का 'इनाम' और व्यक्तिगत सम्पत्ति बनाने का लाइसेन्स** मानने के सर्वव्यापी पूंजीवादी रवैये का शिकार बन चुके हैं। ऐसे लोग पांच साल के समूचे दौर में **शिकारी पक्षी की भांति सीट पर आंख गड़ाये रहते हैं।** कुछ तो इसे कई वर्षों के अपने काम-काज के कारण जन्मसिद्ध अधिकार मान बैठते हैं। और **इससे भी बदतर बात यह है कि वे दलित, पिछड़े या अल्पसंख्यक 'कम्युनिस्ट' होने के नाते अपने लिए आरक्षण की मांग करते हैं।** जाहिर है कि ऐसे लोग अनिवार्य रूप से पूंजीवादी व्यवस्था द्वारा पचा लिए जाएंगे।
>
> "दूसरी ओर कुछ लोग चरम विपक्ष के विचार का मखौल उड़ाते हैं और इसके बजाय संसदीय खेल के नियमों को निभाने की पैरवी करते हैं।..."
>
> (वही, पृष्ठ 36, जोर हमारा)

इसे पढ़कर शायद माकपा दावा करे कि वह अभी इतनी पतित नहीं हुई है! जाहिर है कि आंख मूंदने पर भी लिबरेशन नेतृत्व की आंखों में अपना यह हश्र गड़ रहा है और इसीलिए वह यह बात करता है :

> "इस मोर्चे पर जरा भी ढिलाई बरतने से हमारी पार्टी सी.पी.आई.-सी.पी.आई (एम) जैसे संसदीय संगठन में पतित हो जाएगी और हमारे अस्तित्व का कोई तर्क ही नहीं बचेगा,..."
>
> (वही, पृष्ठ 37)
>
> "मगर खुली व जन पार्टी के निर्माण का मतलब कम्युनिस्ट पार्टी के बुनियादी गुणों को शिथिल कर देना, उसके एकीकृत चरित्र को कमजोर करना और उसके केन्द्रीकरण व अनुशासन को क्षतिग्रस्त करना कदापि नहीं है। अतः ऐसे तमाम किस्म के उदारवादी विचारों के खिलाफ, जो किसी क्रांतिकारी कम्युनिस्ट पार्टी को सामाजिक जनवादी संसदीय संगठन में तब्दील करने की कोशिश करते हों, लगातार संघर्ष चलाते जाना बेहद जरूरी है।"
>
> (वही, पृष्ठ 83)

यह सब संघर्ष चलाने की बात बेमानी है क्योंकि आपका एक सामाजिक-जनवादी संगठन में रुपान्तरण हो चुका है!

लिबरेशन की चुनाव संबंधी कार्यनीतिक लाइन की तीसरी कांग्रेस से छठीं कांग्रेस तक विकास यात्रा के इस अवलोकन से यह बात साफ तौर पर उभर कर आती है कि इन सत्रह सालों में लिबरेशन एक क्रांतिकारी संगठन से संसदीय राजनीति में गले तक डूबे संशोधनवादी संगठन में तब्दील हो चुका है। उसमें और भाकपा-माकपा में कोई फर्क नहीं बचा है, सिवाय इसके कि ताकत बहुत कम होने के कारण उसे पतित होने का उतना मौका नहीं मिलता, जितना भाकपा या माकपा को।

रणनीतिक लाइन

लिबरेशन की पतन यात्रा के अवलोकन के इस अंतिम हिस्से में हम इसकी रणनीतिक लाइन का विश्लेषण करेंगे। ऐसा करते हुए हम मूलतः दो बिन्दुओं को उठाएंगे। एक तो यह

कि देश में पूंजीवादी विकास के सारे लक्षणों के बावजूद लिबरेशन बाकी सारे कम्युनिस्ट और संशोधनवादी संगठनों की तरह देश को अर्द्ध-सामंती समाज के रूप में चित्रित करता है और इसलिए नयी जनवादी क्रांति की बात करता है। दूसरा यह कि इसकी संशोधनवादी लाइन कैसे कार्यक्रम में भी अपने को अभिव्यक्त करती है। इन दोनों बातों के लिए हम मूलतः छठीं पार्टी कांग्रेस के दस्तावेजों को आधार बनाएंगे (क्योंकि वह सबसे बाद का है) तथा पहले के दस्तावेजों का तभी जिक्र करेंगे जब उसके संशोधनवादी विचलन को दिखाने की जरूरत पड़ेगी।

पहले भारतीय क्रांति की मंजिल की बात लें। अपने नीति संबंधी प्रस्ताव में लिबरेशन ने भारतीय कृषि के बारे में जो बातें कहीं हैं, वे और कुछ नहीं इस बात का प्रमाण हैं कि देश में पूंजीवादी खेती ही प्रधान है। यदि सामंती अवशेष हैं तो वे महज "अवशेष" हैं और पूर्णतः इस पूंजीवादी खेती के प्रभाव के अधीन हैं। यह प्रस्ताव कहता है :

"पिछले पांच दशकों के दौरान भारत के ग्रामीण क्षेत्र में दूरगामी परिवर्तन हुए हैं। पुरानी जमींदारी और भूदास प्रथा से मिलती-जुलती बड़े पैमाने की जोतदारी के अन्य रूप, अब काफी बदल चुके हैं। सीमित भूमि सुधार करने की सरकारी नीति की बदौलत और उसके भी विकृत ढंग से लागू होने के चलते, पुरानी व नई दोनों किस्म की, अपेक्षाकृत छोटे पैमाने की जोतदारी अस्तित्व में आई है और इन जोतदारों के साथ पूंजीपति वर्ग का संश्रय कायम हुआ है।

"नये पूंजीवादी जोतदार, जिन्होंने कमोबेश प्रत्यक्ष रूप से खेती करना चालू किया है, तथा उनका एक हिस्सा, जो सूदखोरी, व्यापार तथा अन्य ग्रामीण व्यवसायों में लगा है, खेतिहर पूंजीपति वर्ग के बतौर उभर रहा है।..."

(भाकपा (माले) के नीति संबंधी प्रस्ताव, छठा पार्टी महाधिवेशन, पृष्ठ 27)

"पूंजीपति वर्ग भारतीय कृषि में एक ऐसे किस्म के पूंजीवाद को बढ़ावा दे रहा है जो नये जोतदारों और धनी किसानों पर आधारित है। बहुतेरे पुराने जोतदारों, जो नये पूंजीवादी जोतदारों में रूपान्तरित हो रहे हैं, के अलावा धनी किसानों का एक हिस्सा भी पूंजीवादी फार्मरों के बतौर उभर रहा है जिसे कुलक या खेतिहर पूंजीपति वर्ग के बतौर जाना जाता है।... ये सामंती अवशेष, जैसे बंधुआपन, सूदखोरी तथा बंधन के अन्य रिश्ते, पूंजीवादी जोतदारों एवं कुलकों द्वारा निरपेक्ष अतिरिक्त मूल्य के शोषण के उद्देश्य से अपनाए गये हैं। इस प्रकार अर्ध-सामंती "गैर आर्थिक" वसूली नये सिरे से विस्तृत होने वाले पूंजीवादी संबंधों का अनिवार्य अंग है,...

"कृषि में पूंजीवाद के प्रवेश ने किसानों के व्यापक बहुसंख्यक हिस्से को लगातार हाशिये पर ठेलने और उनके सर्वहाराकरण की प्रवृत्ति को जन्म दिया है। नयी वर्ग-शक्तियों और नये आंदोलनों का भी उदय हुआ है : फार्मर आंदोलन में अगुआ भूमिका निभाने वाले कुलकों के अलावा स्वतंत्र मजदूरों के एक विशाल वर्ग का उदय हुआ है, जो मजदूरी तथा अन्य मुद्दों पर स्वतंत्र आंदोलन छेड़ रहे हैं। फिर भी अभी तक हमारी कृषि के प्रभावकारी चरित्र के बतौर छोटे पैमाने की खेती बरकरार है।"

(वही, पृष्ठ 28)

"उदारीकरण के प्रभाव से निजी क्षेत्र के नेतृत्व में फसलों में निर्यातोन्मुखी विविधता लाने का रुझान बढ़ रहा है जो फसलों के पहले से चले आ रहे पैटर्न में उल्लेखनीय परिवर्तन ला रहा है, जिसमें खाद्यान्नों में लगी भूमि का रकबा घट रहा है जो देश की खाद्य सुरक्षा को खतरे में डाल रहा है।"

(वही, पृष्ठ 35)

"भारतीय कृषि में लगभग पूरे तौर पर मुद्रा-विनिमय के छा जाने (मौद्रीकरण) तथा कमोबेश समूचे उत्पाद के माल में बदल जाने (पण्यीकरण) के बावजूद प्राक् पूंजीवादी संबंधों के लम्बे अरसे तक बरकरार रहने का कारण यह है कि व्यापारी पूंजी की भूमिका उसके आकार से भी बड़ी है।..."

(वही, पृष्ठ 38)

"... अब भूमि सुधारों को उलटना सरकार के एजेन्डा में जरूर आ गया है। शक्तिशाली लॉबियां मांग कर रही हैं कि निगमित क्षेत्र और कृषि व्यवसाय (एग्रो-बिजनेस) की इकाइयों के लिए कृषि में प्रवेश को सुगम बनाने हेतु कृषि भूमि संबंधी हदबंदी को हटा दिया जाय। कर्नाटक, पश्चिम बंगाल, महाराष्ट्र और तमिलनाडु समेत कई राज्य इस दिशा में विधान अथवा प्रशासन संबंधी ठोस कदम भी उठा चुके हैं। कृषि उत्पादों पर अधिक निर्यात के लिए पड़ने वाला जोर लाजिमी तौर पर भूमि सुधारों को उलटने की दिशा में और ज्यादा दबाव पैदा करेगा। फार्म लॉबी का एक प्रभावशाली हिस्सा भी इसी बात की वकालत कर रहा है।..."

(वही, पृष्ठ 30-31)

आजादी के बाद कृषि क्षेत्र में जो परिवर्तन हुए हैं, लिबरेशन उन्हें उपरोक्त रूप में देखता है। उपरोक्त सारे परिवर्तन केवल एक बात के सूचक हैं : कृषि क्षेत्र में पूंजीवाद के हावी हो जाने के। वे चीख-चीखकर कृषि में पूंजीवादी संबंधों की उपस्थिति को दर्ज करा रहे हैं। लेकिन लिबरेशन, इन सबके बावजूद जड़सूत्रवादियों की तरह "अर्द्ध-सामंतवाद" की थीसिस से चिपका हुआ है। नीति संबंध प्रस्ताव कहता है :

"विकसित होते पूंजीवादी संबंधों और उनसे जुड़े मुद्दों व मांगों के किसान आंदोलन के लिए बढ़ते महत्व के बावजूद, सामंती अवशेषों के खिलाफ संघर्ष ही हमारे किसान संघर्षों की मुख्य दिशा बना हुआ है, और आने वाले वर्षों में भी बना रहेगा।

"सामंती अवशेषों के खिलाफ संघर्ष न सिर्फ पुराने किस्म के जोतदारों व धनी किसानों के खिलाफ बल्कि नये पूंजीवादी जोतदारों व कुलकों के खिलाफ भी संचालित है।..."

(वही, पृष्ठ 30)

इसी तरह पार्टी का कार्यक्रम कहता है :

"अपने विविधतापूर्ण औद्योगिक ढांचे, लगातार फैलते सेवा क्षेत्र, आधुनिक कृषि के विकासमान अंचलों और विश्व पूंजीवादी व्यवस्था के साथ निरंतर एकीकरण के बावजूद भारत, जिसमें दुनिया के गरीब देशों का सबसे बड़ा हिस्सा निवास करता है, एक पिछड़े अविकसित अथवा अवरुद्ध पूंजीवादी देश की श्रेणी में ही गिना जाता है। ढेर सारे सामंती अवशेष, जो अभी भी काफी दृढ़ और शक्तिशाली हैं, भारत में पूंजीवाद के विकास को लगातार दूषित कर रहे हैं।

"पूंजीवादी विकास के नियमानुरूप ही सकल घरेलू उत्पादन में कृषि का हिस्सा लगातार गिरता रहा है, फिर भी पिछड़ी लघु कृषक अर्थव्यवस्था की प्रधानता के चलते रोजगार और जीविका के लिए कृषि पर आबादी की निर्भरता 70% के इर्द-गिर्द बनी हुई है।... *लिहाजा पार्टी भारतीय समाज को अर्ध-सामंती समाज के रूप में चित्रित करती है।*"

(भाकपा (माले) के बुनियादी दस्तावेज, सामान्य कार्यक्रम, भाकपा (माले) प्रकाशन, 1997, पृष्ठ *4-5, इटैलिक्स मूल में*)

क्रांति की मंजिल के संबंध में यह कार्यक्रम कहता है :

"भारतीय समाज में चार मुख्य अंतर्विरोध क्रियाशील हैं—साम्राज्यवाद और भारतीय राष्ट्र के बीच का अंतर्विरोध, सामंतवाद और व्यापक जन समुदाय के बीच का अंतर्विरोध, बड़ी पूंजी और भारतीय जनता, खासकर मजदूर वर्ग के बीच का अंतर्विरोध और शासक वर्गों के विभिन्न हिस्सों के बीच का अंतर्विरोध। हालांकि इन सभी अंतर्विरोधों को अलग-अलग पहचाना जा सकता है, फिर भी साम्राज्यवाद, बड़ी पूंजी और सामंती अवशेष एक वास्तविक गठजोड़ के

बतौर भी प्रकट होते हैं। हमारी जनता इस गठजोड़ के सामंती कमरतोड़ बोझ तले कराह रही है। लेकिन इस गठजोड़ को सामंती अवशेषों व व्यापक भारतीय जनसमुदाय के बीच के प्रधान अंतर्विरोध को आत्मसात करने और उसे दल करने के जरिए ही उखाड़ फेंका जा सकता है, क्योंकि सामंती अवशेष देश में उत्पादक शक्तियों के स्वतंत्र और तेज विकास की राह में रोड़ा बने हुए हैं।

"इससे हमारी क्रांति की मंजिल निर्धारित होती है। यह जनता की जनवादी क्रांति की मंजिल है जिसकी धुरी है कृषि क्रांति।..."

(वही, पृष्ठ 7)

क्रांतिकारी वर्गों की लामबंदी के बारे में कार्यक्रम का कहना है :

"मजदूर वर्ग द्वारा संचालित जनवादी क्रांति की मुख्य शक्ति किसान समुदाय है। पार्टी गरीब किसानों और सर्वहारा पर पूर्णतया निर्भर करती है, मध्यम किसानों से दृढ़तापूर्वक एकताबद्ध होती है, और यहां तक कि पूंजीवादी फार्मरों के एक हिस्से को पूर्णतः अपने पक्ष में कर लेती है और शेष को तटस्थ बना देती है। अंततः धनी किसानों का बस एक छोटा सा हिस्सा ही क्रांति के दुश्मनों का साथ देगा। छोटे और मझोले पूंजीपति और बुद्धिजीवी जनवादी क्रांति के दुलमुल और अस्थिर संश्रयकारी हैं।"

(वही, पृष्ठ 9)

जहां तक क्रांति के दुश्मनों का सवाल है, यह कार्यक्रम साफ-साफ कुछ नहीं कहता, लेकिन वह "बड़े पूंजीपतियों-भूस्वामियों की केन्द्रीय सत्ता को उखाड़ फेंकने" की बात करता है जिससे लगता है कि क्रांति के मुख्य दुश्मनों में वह बड़े पूंजीपतियों और भूस्वामियों को मानता है। बाहरी दुश्मन तो साम्राज्यवाद है ही।

कितना अजीब है कि लिबरेशन का यह कार्यक्रम! अपने नीति संबंधी प्रस्तावों में भारतीय कृषि व्यवस्था का यह जो वर्णन करता है, उससे यही उभर कर आता है कि कृषि में पूंजीवादी संबंध हावी हो चुके हैं तथा "सामंती अवशेष" अब सचमुच में "अवशेष" ही के रूप में बचे हैं। लेकिन इस वर्णन और इस शब्द ("सामंती अवशेष") के प्रयोग के बाद कार्यक्रम कहता है कि "हमारी जनता इस गठजोड़ के **सामंती कमरतोड़ बोझ** के तले कराह रही है।" "सामंती अवशेष" का बोझ तो **कमरतोड़** हो गया लेकिन जो "अवशेष" नहीं बल्कि समग्र है यानि पूंजीवाद, उसका बोझ सहनीय हो गया! क्या किसी व्यवस्था के "अवशेष" किसी दूसरी व्यवस्था की गति को निर्धारित कर सकते हैं! सामान्यतः कोई भी कहेगा कि नहीं। "अवशेष" नयी व्यवस्था को मूलगति को निर्धारित नहीं कर सकते। लेकिन लिबरेशन का सोचना भिन्न है। इसके अनुसार "सामंती अवशेष देश में उत्पादक शक्तियों के स्वतंत्र व तेज विकास की राह में रोड़ा बने हुए हैं।" और इसीलिए लिबरेशन की निगाह में क्रांति की मंजिल होगी "नयी जनवादी क्रांति" जो इन राह के रोड़ों यानि "सामंती अवशेषों" को खत्म कर देगी।

इसको पढ़ने के बाद केवल दो ही संभावनाएं लगती हैं। पहली तो यह कि लिबरेशन संशोधनवादी हो जाने के बावजूद जड़सूत्रवादी बना हुआ है तथा वह नये विकास को भी पुराने सूत्रों में फिट कर रहा है। इसीलिए उसके द्वारा वास्तविक हालात के वर्णन और कार्यभार निर्धारण में इस हद तक की विसंगति है। दूसरा, यह कि लिबरेशन का संशोधनवाद यहां भी अपने आपको अभिव्यक्त कर रहा है, लेकिन एकदम नये कोण से। वह कोण है, भारतीय क्रांति के कार्यभार को रेडिकल बुर्जुआ के दृष्टिकोण से देखना। लिबरेशन की आंख "सामंती अवशेषों" पर गड़ी

हुई है जो "उत्पादक शक्तियों के स्वतंत्र व तेज विकास की राह में रोड़ा बने हुए हैं।"। हम जानते हैं कि भारतीय समाज का पिछले पचास सालों में जो विकास हुआ है, वह भारतीय पूंजीपति वर्ग के नेतृत्व में हुआ है। यदि इस विकास में गति धीमी है तो ऐसा भारतीय पूंजीपति वर्ग के चरित्र के कारण हुआ है। आज खुद यह पूंजीपति वर्ग ही इस विकास के रास्ते में रोड़ा बना हुआ है। अतः देश का यदि विकास करना है (सर्वहारा के हित में) तो यह इस पूंजीपति वर्ग और इसकी व्यवस्था को खत्म करके ही किया जा सकता है। यह केवल और केवल पूंजीवादी व्यवस्था के विनाश और समाजवादी समाज की स्थापना के साथ संभव है। इसके मुकाबले "सामंती अवशेषों" को समाप्त कर व छोटे और मझोले पूंजीपति वर्ग को साथ लेकर विकास करने की सोचना, रेडिकल पूंजीपति वर्ग के दृष्टिकोण से मामले को देखना है। और लिबरेशन यही कर रहा है। जरा सुनिए :

"विकसित होते पूंजीवादी संबंधों और उनसे जुड़े मुद्दों व मांगों के किसान आंदोलन के लिए बढ़ते महत्व के बावजूद, सामंती अवशेषों के खिलाफ संघर्ष ही हमारे किसान संघर्षों की मुख्य दिशा बना हुआ है और आने वाले वर्षों में बना रहेगा।"

बढ़ रहे हैं पूंजीवादी संबंध, उसके कारण नये मुद्दे और आंदोलन पैदा हो रहे हैं, लेकिन संघर्ष होगा "सामंती अवशेषों" के खिलाफ और "आने वाले वर्षों में भी"! भला बुर्जुआ के अलावा कौन यह चाहेगा? पूंजीवादी उत्पादन संबंधों के जड़ जमाने के बावजूद आप संघर्ष करें "सामंती अवशेषों" के खिलाफ, उत्पादक शक्तियों के विकास के लिये! पूंजीपति वर्ग के अलावा यह किसके हित में है? आप ही के अनुसार,

"ये सामंती अवशेष... पूंजीवादी जोतदारों और कुलकों द्वारा निरपेक्ष अतिरिक्त मूल्य के शोषण के उद्देश्य से अपनाए गये हैं। इस प्रकार अर्ध-सामंती 'गैर-आर्थिक' वसूली नये सिरे से विस्तृत होने वाले पूंजीवादी संबंधों का अनिवार्य अंग है"

फिर भी आपका "सामंती अवशेषों" के खिलाफ संघर्ष देहाती पूंजीपतियों के खिलाफ संघर्ष नहीं होगा! "आने वाले वर्षों" में आप फिर भी पूंजीवादी संबंधों के बदले "सामंती अवशेषों" के खिलाफ ही संघर्ष करेंगे। जरा सोचिए! लिबरेशन के अनुसार देहातों में नये पैदा हुए पूंजीपतियों ने "सामंती अवशेषों" को अपना हथियार बना लिया है। ये "सामंती अवशेष" नये पूंजीवादी संबंधों का **अनिवार्य** अंग हैं। लेकिन तब भी "सामंती अवशेषों" पर आक्रमण इन पूंजीवादी संबंधों को अपना निशाना नहीं बनाएगा। यह किसके हित में होगा? कौन चाहता है कि पूंजीवादी संबंधों को छोड़कर केवल "सामंती अवशेषों" को निशाना बनाया जाए?

अपने कार्यक्रम को मार्क्सवादी शब्दावली में प्रस्तुत करने के बावजूद कहीं-कहीं बात मुंह से निकल ही जाती है। नीति संबंधी प्रस्ताव में एक जगह यह शानदार बात कही गई है :

"पूंजीवाद के सबसे स्वतंत्र और व्यापक आधार पर विकसित होने का रास्ता—जनवाद का रास्ता—केवल कंगाल किसान समुदाय पर आधारित होकर संभव है, पर वर्तमान में वे पूंजीगत संसाधनों से पूर्णतः वंचित हैं। **इस जीवन शक्ति से भरपूर पूंजीवाद में गरीब व मध्यम किसान मुख्य भूमिका अदा करेंगे। ऐसा रास्ता केवल पूंजीपति वर्ग और उसकी सरकार की कृषि नीति को खड़ी चुनौती** देकर ही संभव है।"

(वही, पृष्ठ 29, जोर हमारा)

यह हम किसका कार्यक्रम पढ़ रहे हैं? "पूंजीवाद के सबसे स्वतंत्र और व्यापक आधार पर विकसित होने के रास्ते" की किसे तलाश है? कौन "जीवन शक्ति से भरपूर पूंजीवाद" की

खोज कर रहा है? हम तो यही जानते थे कि **नयी जनवादी क्रांति** का मतलब है सर्वहारा के नेतृत्व में जनवादी कार्यभारों को पूरा करते हुए समाजवाद की ओर प्रस्थान। फिर यह "पूंजीवाद के सबसे स्वतंत्र विकास" और "जीवन शक्ति से भरपूर पूंजीवाद" की बात कहां से आ गई? क्या इससे एकदम साफ नहीं है कि लिबरेशन जिस "नयी जनवादी क्रांति" की बात कर रहा है, वह वास्तव में पुरानी पूंजीवादी जनवादी क्रांति ही है जिसका उद्देश्य है पूंजीवाद की स्थापना, "पूंजीवाद का सबसे स्वतंत्र विकास", "जीवन शक्ति से भरपूर विकास"। यह "नयी जनवादी क्रांति" केवल इसीलिए है क्योंकि इसकी प्राप्ति वर्तमान "पूंजीपति वर्ग और उसकी सरकार की कृषि नीति को खड़ी चुनौती देकर ही संभव है"। लेकिन इसका उद्देश्य है पूंजीवाद की स्थापना, "सामंती अवशेषों" से मुक्त, पूंजीवाद की स्थापना! क्या अब भी शक है कि लिबरेशन सर्वहारा के नेतृत्व में मेहनतकश जनता का राज स्थापित करना चाहता है?

यही बात और भी संघनित रूप में निम्न शब्दों में अभिव्यक्त होती है :

"सर्वहारा की पार्टी की कृषि नीति का केन्द्रीय उद्देश्य है...तमाम कृषि संबंधी प्रश्नों को समेटते हुए विभिन्न मुद्दों के आधार पर **छोटे व मध्यम फार्मरों के विकास की नीति को औजार बनाकर पूंजीपति वर्ग और उसके राज्य का मुकाबला करना...।**"

(वही, पृष्ठ 29, जोर हमारा)

वाह! आप गरीब किसान और सर्वहारा पर पूर्णतया निर्भर करेंगे, मध्यम किसानों से दृढ़तापूर्वक एकताबद्ध होंगे लेकिन आपके कृषि नीति की धुरी होगी—**छोटे व मध्यम फार्मरों के विकास की नीति!** आप ग्रामीण सर्वहारा और गरीब किसानों पर निर्भर रहकर उन्हें कोआपरेटिव व सामूहिक फार्मों में गोलबंद नहीं करेंगे, आप इनमें मध्यम किसानों को नहीं समेटेंगे बल्कि आप अपनी "नयी जनवादी क्रांति" में "छोटे और मध्यम फार्मरों का विकास" करेंगे। आपकी "नयी जनवादी क्रांति" कोई भी हो, कम-से-कम माओ की नयी जनवादी क्रांति नहीं होगी। ज्यादा सही कहें तो आपकी "नयी जनवादी क्रांति" ल्यू शाओ ची और डेंग स्याओ पिंग की "नयी जनवादी क्रांति" है जिसका उद्देश्य है, पूंजीवाद का विकास। आधुनिक जमाने में सर्वहारा के नेतृत्व में क्रांति के द्वारा पूंजीवाद का विकास, क्योंकि खुद पूंजीपति वर्ग यह काम अब नहीं कर सकता। ल्यू शाओ ची और डेंग श्याओ पिंग के प्रति आपका प्रेम यूं ही नहीं है! '50 के दशक में चीन में विकास की नीति के संबंध में चले संघर्ष में डेंग स्याओ पिंग के प्रति आपकी नरमी (अपने को माओ विचारधारा का अनुयायी कहते हुए) भी यूं ही नहीं है! इस संघर्ष में आप पूर्णतया ल्यू शाओ ची, डेंग श्याओ पिंग और पेंग ती हुई के साथ हैं। उन्हीं की तरह आप भी चाहते हैं कि सर्वहारा के नेतृत्व में नयी जनवादी क्रांति की विजय के बाद भी "पूंजीवाद का सबसे स्वतंत्र व व्यापक आधार वाला" विकास हो, ऐसा पूंजीवाद जो "जीवन-शक्ति से भरपूर" हो और जिसके विकास की नीति हो "छोटे और मध्यम फार्मरों के विकास की नीति"।

इस विश्लेषण के साफ उभर कर आता है कि आप "रेडिकल बुर्जुआ" की जिस किस्म से संबंध रखते हैं वह "छोटे व मध्यम फार्मरों" की किस्म है जो अपने आर्थिक आधार में तो पेटी बुर्जुआ है लेकिन अपने चिंतन में पूर्णतया बुर्जुआ। यही है जो "सामंती अवशेषों" का विनाश तो चाहता है लेकिन पूंजीवाद का नहीं। यह अपनी राह में खड़े बड़े पूंजीपति का भी विनाश चाह सकता है, लेकिन सामान्यतया पूंजीपति वर्ग का नहीं। बल्कि यह तो अपने पर आधारित पूंजीवाद के "स्वतंत्र व व्यापक विकास" का पूर्णतया समर्थक होगा। उपरोक्त उद्हरणों में आप

शब्दशः यही बात कहते भी हैं। लिबरेशन के इस आधार और चरित्र को देखते हुए यह कतई आश्चर्यजनक नहीं है कि इसके नेता और कार्यकर्त्ता इतनी आसानी से लालू प्रसाद यादव की पार्टी में चले जाते हैं। आखिर लालू और उसकी पार्टी इसी वर्ग का तो प्रतिनिधित्व करते हैं। नाम और शब्दावली को छोड़कर आखिर फर्क क्या है?

यह बात एक और भी कोण से प्रमाणित होती है। इसकी कृषि संबंधी नीति में जितनी मांगे हैं उनमें से ज्यादातर इसी वर्ग की मांगे हैं।

उपरोक्त सभी बातों से स्पष्ट है कि लिबरेशन की "नयी जनवादी क्रांति" माओ द्वारा प्रणीत नयी जनवादी क्रांति नहीं है। यह ऐसी "नयी जनवादी क्रांति" है जो पूर्णतया पूंजीपति वर्ग को ग्राह्य है क्योंकि यह पूंजीपति वर्ग को जरा भी चोट पहुंचाने की कोशिश नहीं करती और जिसका उद्देश्य है, "जीवन शक्ति से भरपूर" "स्वतंत्र व व्यापक आधार वाले" पूंजीवाद का विकास। लिबरेशन के "छोटे और मध्यम फार्मर" के आधार वाले पूंजीवादी विकास की लाइन के इस विश्लेषण के बाद हम इसके खिलाफ यह बहस नहीं करने जा रहे हैं कि क्यों आज भारत में समाजवादी क्रांति की मंजिल है, न कि नवजनवादी क्रांति की। नयी जनवादी क्रांति की लाइन मानने वाले किसी क्रांतिकारी संगठन के साथ इस बहस का कोई औचित्य है, लेकिन उस संगठन के साथ कोई औचित्य नहीं है जिसकी "नयी जनवादी क्रांति" की लाइन का उद्देश्य हो "जीवन शक्ति से भरपूर" पूंजीवाद का विकास।

इसके बदले अब हम लिबरेशन द्वारा प्रस्तुत क्रांति के कार्यभारों का विश्लेषण कर यह देखेंगे कि इसका संशोधनवाद कैसे इन कार्यभारों में भी अभिव्यक्त होता है।

पार्टी कार्यक्रम में वर्णित कार्यभार का तीसरा बिन्दु इस प्रकार है :

"3. इजारेदार-बहुराष्ट्रीय-भूस्वामी गठजोड़ के हाथों से राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था की बागडोर हासिल करके तथा निर्णय प्रक्रिया व उत्पादन में मेहनतकश अवाम को प्रभावकारी अधिकार सौंपकर तथा आत्मनिर्भरता और जनकल्याण की जरूरतों के अनुकूल मौजूदा प्राथमिकताओं को पुनर्व्यवस्थित करके और मौजूदा नीतियों की दिशा पुनः निर्धारित करके सामग्रिक भूमि-सुधार और सुसंगत औद्योगीकरण की बुनियाद पर तेज आर्थिक विकास और जनता की गरीबी का उन्मूलन।"

(वही, पृष्ठ 11-12)

क्रांति के सबसे महत्वपूर्ण आर्थिक कार्यभार—सम्पत्ति के पुनर्वितरण और नया प्रबन्धन—के बारे में यह सूत्रीकरण पूर्णतया संशोधनवाद से सराबोर है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस सूत्रीकरण से किसी पूंजीपति को कोई भी ऐतराज नहीं होगा। आप उसे यह पढ़वाइये और वह यह कहेगा कि बिल्कुल ठीक! हमें कोई आपत्ति नहीं है! आप "राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की बागडोर" हासिल करना चाहते हैं? शौक से लीजिए। हम खुद ही आप को दे देंगे। अभी तक वह खुली पूंजीवादी पार्टियों के हाथों में थी, अब आप ले लीजिए! आप "निर्णय प्रक्रिया व उत्पादन में मेहनतकश अवाम को प्रभावकारी अधिकार" सौंपना चाहते हैं? बिल्कुल कीजिए। आखिर हम भी तो यही चाहते हैं। हम उद्योगों के प्रबन्धन में मजदूरों के प्रतिनिधियों को शामिल करते रहे हैं। हम पंचायती राज के जरिये किसानों को भी इसमें शामिल करने का प्रयास करते रहे हैं। अब आप करिये। "आत्म निर्भरता और जन कल्याण की जरूरतों के अनुकूल मौजूदा प्राथमिकताओं को पुनर्व्यवस्थित" करना चाहते हैं? निश्चय ही यह अच्छी बात होगी। हम भी इतने सालों से

"गरीबी हटाते" रहे हैं। "जवाहर रोजगार" से लेकर न जाने कितनी योजनाएं जन कल्याण के लिए लागू की हैं। आप पढ़े लिखे लोग हैं। देश-दुनिया का इतिहास जानते हैं। अब आप भी अपनी कुछ योजनाएं बनाएं और जन कल्याण करें। भई, हम तो जन कल्याण करते-करते थक गये हैं। "सामग्रिक भूमि सुधार और सुसंगत औद्योगीकरण की बुनियाद पर तेज आर्थिक विकास और जनता की गरीबी का उन्मूलन" करना चाहते हैं? यह तो बहुत ही शानदार रहेगा। तेज आर्थिक विकास की तो हमें कब से तलाश है। हम भी "हिन्दू विकास दर" से पिछले पचास साल से परेशान हैं। आप यदि यह विकास तेज कर सकें तो बहुत ही अच्छा होगा क्योंकि इससे हमारा माल खूब बिकेगा। हमारा मुनाफा खूब बढ़ जायगा। गरीबी के उन्मूलन से तो क्रय शक्ति ही कई गुना बढ़ जाएगी। हम तो मालामाल हो जायेंगे। हमारे बाजार का संकट ही हल हो जाएगा। लेकिन बस हमारी सम्पत्ति पर कोई आंच न आने पावे। न तो हमारी सम्पत्ति पर, न हमारे विदेशी भाई बन्धुओं की सम्पत्ति पर। आपके वे दूसरे कम्युनिस्ट भाई बहुत खराब हैं। वे सम्पत्ति के जाब्ते की बात करते हैं। वे हमारी सम्पत्ति छीन लेने और उसका राष्ट्रीयकरण कर देने की बात करते हैं। है न कितनी गलत बात! लेकिन आप तो बहुत अच्छे हैं। आप ऐसा कोई भी इरादा नहीं रखते। कम से कम आप का यह कार्यक्रम तो ऐसी कोई बात नहीं कहता। जरा एक बात बताइये, कहीं आपका अपना कोई दूसरा, गुप्त कार्यक्रम तो नहीं है जिसे आप सत्ता में आ जाने पर छिपे बस्ते से निकाल लेंगे और उसे लागू करना शुरू कर देंगे? नहीं न? तो फिर ठीक है। हमें आपसे कोई शिकायत नहीं है। आप शौक से केन्द्रीय सत्ता में आयें। बल्कि हम भी आपकी इसमें मदद करेंगे। आप चाहें तो भाकपा-माकपा से गठबंधन बना लें क्योंकि अकेले तो आप बहुत छोटे हैं। हमारे बहुत प्रयास के बाद भी आप अपने दम पर सत्ता में नहीं आ सकते। तो आप जल्दी से जल्दी अपने "वाम महासंघ" के नाम को परवान चढ़ाएं और दिल्ली दरबार में तशरीफ ले आएं। हम फूल-माला लेकर आपके स्वागत में खड़े मिलेंगे आपको। पिछली बार ज्योति बाबू को नहीं देखा आपने? बिल्कुल उसी तरह। आमीन!

एक पूंजीपति का यह काल्पनिक वार्तालाप उतना काल्पनिक नहीं है। हम देख चुके हैं यह कार्यक्रम पूंजीपतियों की सम्पत्ति की जाब्ती की कोई बात नहीं करता। ऐसा नहीं है कि लिबरेशन इस बात से वाकिफ नहीं है। इसकी तीसरी कांग्रेस में पारित जो कार्यक्रम है (बल्कि यहां तक कि चौथी कांग्रेस द्वारा पारित कार्यक्रम भी) वह सीधे-सीधे बड़े पूंजीपतियों और साम्राज्यवादियों की सम्पत्ति को जब्त करने की बात करता है। उसमें हम यह पढ़ते हैं :

> "बड़े पूंजीपतियों व बड़े जोतदारों के केन्द्रीय शासन को उखाड़ फेंकने के बाद, जनता की जनवादी राज्यसत्ता स्थापित की जाएगी। यह राज्यसत्ता निम्नलिखित कार्यभारों को पूरा करेगी :
> (i) तमाम साम्राज्यवादी पूंजी, बैंकों व उद्यमों की जब्ती और तमाम साम्राज्यवादी कर्जों का खात्मा।
> (ii) दलाल नौकरशाह पूंजीपतियों के तमाम उद्योगों, उद्यमों, बैंकों व अन्य सम्पदाओं की जब्ती; नौकरशाही प्रबंध का उन्मूलन और मजदूरों, कर्मचारियों, तकनीशियनों व विशेषज्ञों की भागीदारी के साथ जनवादी प्रबन्ध की स्थापना।
> .....
> (iv) जोतदारों की तमाम जमीन की जब्ती और उसका भूमिहीन, गरीब व निम्न मध्यम किसानों के बीच "जमीन जोतने वालों के उसूल के आधार पर वितरण।...बृहद् पूंजीवादी फार्मों का राष्ट्रीयकरण..."
>
> (भाकपा (माले) की तीसरी अखिल भारतीय कांग्रेस के दस्तावेज, पृ. 5.22-5.23)

यह दिन के उजाले की भांति स्पष्ट है। इसमें कोई भ्रम नहीं है कि इनको प्रस्तुत करने वाला क्या करना चाहता है। लेकिन यह जितना स्पष्ट है, छठीं पार्टी कांग्रेस का उपरोक्त कार्यक्रम (वह पांचवीं कांग्रेस में स्वीकृत कार्यक्रम की हूबहू पुनर्प्रस्तुति है) उतना ही मामले को गोलमाल कर प्रस्तुत करता है। वह इस रूप में सूत्रबद्ध है कि पूंजीपति वर्ग चाहे तो वही अर्थ निकाल सकता है जो उपरोक्त काल्पनिक वार्तालाप में दर्शाया गया है। बल्कि लिबरेशन की आकांक्षा है कि उसका वही अर्थ निकले। अन्यथा इसकी कोई जरूरत नहीं थी कि तीसरी कांग्रेस में साफ-साफ सूत्रित इन कार्यभारों को पांचवीं व छठी कांग्रेस में उपरोक्त शब्दों में पुनर्सूत्रित किया जाता। संशोधनवादी हो जाने के बाद लिबरेशन यह नहीं कर सकता कि वह अपने कार्यभारों को साफ-साफ क्रांतिकारी तरीके से प्रस्तुत करे। वह दोमुंहा हो गया है। वह चाहता है कि उसकी बातों के दो अर्थ निकलें। जनता के लिए एक और शासक वर्गों के लिए दूसरा। दूसरा अर्थ ही उसका वास्तविक अर्थ होगा क्योंकि लिबरेशन वास्तव में वही करना चाहता है। भाकपा-माकपा पिछले 23 सालों से यही करती रही हैं। अब लिबरेशन भी यही करने की आकांक्षा रखता है।

इसके कार्यभारों में प्रस्तुत एक अन्य मुद्दा भी इसी चीज को उद्घाटित करता है :

> "... पुलिस बर्बरता और नागरिक मामलों में फौजी हस्तक्षेप की संस्कृति को निर्मूल करना तथा पुलिस व सशस्त्र शक्तियों को पुनर्गठित करना और उनमें जनता व राष्ट्र की सेवा करने की नयी भावना भरना।"
>
> (वही, पृष्ठ 11)

इसका क्या अर्थ निकाला जाय? अभी तक तो सारे क्रांतिकारी यही मानते रहे हैं कि क्रांति के बाद पुलिस को भंग कर जन मिलिशिया का गठन किया जाएगा तथा वर्तमान सेना को भंग कर उसकी जगह लाल सेना या जन सेना का गठन किया जाएगा। बल्कि इन दोनों के बिना तो क्रांति संभव ही नहीं है। वर्तमान सेना व पुलिस पूंजीवादी राज्य सत्ता के सबसे महत्वपूर्ण अंग है। अब यदि क्रांति करनी है तो इसका पहला काम होगा इस राज्य मशीनरी को ध्वस्त करना और नई राज्य मशीनरी खड़ी करना। तो क्या पुरानी राज्य मशीनरी का विध्वंस उसको कायम रखने वाली सेना और पुलिस के विध्वंस के बिना संभव है? पुरानी सेना व पुलिस का विध्वंस क्या क्रांति की बुनियादी शर्त नहीं है? क्या यह क्रांति और मार्क्सवाद का क-ख-ग नहीं है?

लेकिन नहीं। संशोधनवादी होने के साथ ही लिबरेशन ने मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धांतों को, उसके क-ख-ग को भी तिलांजलि दे दी है। अब वह वर्तमान सेना व पुलिस के विध्वंस की नहीं, उनके "पुनर्गठन" करने की बात करता है। उनमें "जनता व राष्ट्र की सेवा करने की नयी भावना भरने" की बात करता है। क्या उसकी इस बात से बुर्जुआ वर्ग यह जाने बिना रहेगा कि लिबरेशन उसका कितना अच्छा एजेन्ट है? अपने असली मालिकों को खुश करने का क्या इससे अच्छा तरीका हो सकता है कोई?

इस मामले में भी लिबरेशन का तीसरी पार्टी कांग्रेस से विचलन साफ-साफ दृष्टिगोचर होता है। वहां यह बात कही गई है :

> "भारत में पुलिस, अर्ध-सैनिक व सैनिक शक्तियां **औपनिवेशिक ढर्रे पर संगठित हैं और वे जनता के साथ कब्जाकार शक्तियों जैसा व्यवहार करती हैं।...**
> "शासक वर्गों द्वारा पुलिस व अर्ध-सैनिक शक्तियों का इस्तेमाल जन समुदाय को मारने पीटने

और उनकी हत्या करने तथा जनसमुदाय के तमाम संघर्षों व आकांक्षाओं को निर्ममतापूर्वक कुचलने के लिए, किया जाता है। बिल्कुल सही तौर पर, **भारतीय जनता इन शक्तियों को तिरस्कार व घृणा की निगाह से देखती है और उनके उन्मूलन की मांग करती है।**

".....**पुलिस-मिलिट्री के समूचे मौजूदा ढाँचे को ध्वस्त करना होगा** और एक नवजनवादी राज्य सत्ता के अंतर्गत, **जन मिलिशिया के निर्माण पर विशेष जोर देते हुए** इन शक्तियों के **संपूर्ण पुनर्गठन** के काम को हाथ में लेना होगा।..."

(वही, पृष्ठ 3.7.6-3.7.7, जोर हमारा)

यहां "समूचे मौजूदा ढांचे को ध्वस्त" करने की बात की गई है, "जन-मिलिशिया के निर्माण" की बात की गई है और इन शक्तियों के "संपूर्ण पुनर्गठन" की बात की गई है। कितना फर्क है इसमें और छठी कांग्रेस (पांचवीं भी) की "पुनर्गठन" की नीति में। यह फर्क सीधे-सीधे क्रांतिकारी व संशोधनवादी का फर्क है!

इस तरह हम देखते हैं कि कार्यक्रम या राजनीति के मामले में भी लिबरेशन ने तीसरी से छठीं कांग्रेस तक उसी संशोधनवादी यात्रा का परिचय दिया है जो उसने विचारधारात्मक, सांगठनिक व कार्यनीतिक सवालों के मामले में दिया था। यहां भी उसका संशोधनवाद उतना ही मुखर है। कोई आश्चर्य की बात नहीं। एक बड़ी बीमारी, शरीर के हर अंग में आपने आप को अभिव्यक्त करती है। लिबरेशन का संशोधनवाद भी सभी मामलों में अपने आपको तीक्ष्णता से अभिव्यक्त करता है।

लिबरेशन के संशोधनवाद में पतन के कारण

अब अंत में हमें एक ही सवाल का अध्ययन करना है। वह सवाल यह है कि आखिर लिबरेशन के संशोधनवाद में पतन के कारण क्या थे। क्यों ऐसा हुआ कि एक क्रांतिकारी संगठन इतनी तेजी से पतन के गर्त में डूब गया? क्यों एकाएक इस संगठन ने अपनी पहले की वे सारी अवस्थितियां छोड़ दी—कुछ खुलेआम तो कुछ गुप-चुप तरीके से—जिनपर वह इतने सालों से खड़ा था? क्या जरूरत पड़ी इस संगठन को अपनी सारी विचारधारात्मक, सांगठनिक, कार्यनीतिक और राजनीतिक लाइन में संशोधन की? इन संशोधनों के माध्यम से वह क्या प्राप्त करना चाहता है? क्यों उसने यह कदम उठाया जबकि वह जानता था कि इसके बाद उसे भारत के क्रांतिकारी खेमे से बहिष्कृत हो जाना पड़ेगा? क्यों वह उस रास्ते पर चलने लगा जो भाकपा और माकपा द्वारा तय किया हुआ जाना पहचाना रास्ता था?

हमारी दृष्टि में संशोधनवाद में लिबरेशन के इस पतन के चार वैचारिक कारण थे। पहले हम एक-एक कर उनका वर्णन करेंगे और फिर इन सबके वर्गीय आधार पर भी अपनी बात रखेंगे। ये चार कारण थे : (1) विचारधारात्मक अवसरवाद, (2) अतीत से खुलेआम हिसाब चुकता न करना (3) गलत रणनीतिक व रणकौशलात्मक लाइन (4) तीसरी कांग्रेस का अति आशावाद।

(1) विचारधारात्मक अवसरवाद

विचारधारा के सवालों पर अवसरवादी रुख अपनाना लिबरेशन के संशोधनवाद में पतित हो जाने का सबसे बड़ा कारण था। हम पहले ही विस्तार से देख चुके हैं कि तीसरी कांग्रेस में लिबरेशन ने विचारधारा के अति महत्वपूर्ण सवालों पर बहुत गंभीर अवसरवाद का परिचय

दिया था। ये विचाधारात्मक अवसरवाद थे : महान बहस और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति को पूर्णतः अपहोल्ड न करना; डेंगवादी चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की आलोचना करने और उसे संशोधनवादी कहने से बचना ; चीन में माओ की मृत्यु के बाद पूंजीवादी पुनर्स्थापना होने से इंकार करना; तीन दुनिया के सिद्धान्त को माओ का सिद्धान्त मानकर अपहोल्ड करना और एक अंतर्राष्ट्रीय केन्द्र की जरूरतों से इंकार करना।

ऐसा नहीं था कि लिबरेशन का यह अवसरवाद कोई "गलती" थी जो कम तथ्य, कम जानकारी या कम समझदारी से पैदा हुई थी। हम पहले ही देख चुके हैं कि कई सारे सवालों पर—मसलन डेंग व चीन के मामले में—लिबरेशन जान बूझकर अवस्थिति ग्रहण करने से इंकार कर रहा था। वह माओ विरोधियों के खिलाफ दृढ़तापूर्वक खड़े होने से इंकार कर रहा था जबकि वह देख रहा था कि चीन में माओ विरोधी, माओ विचारधारा के सारतत्व पर ही हमला कर रहे थे। यह सोचा-समझा अवसरवाद था, नादानी से उपजी "गलती" नहीं, जिसे मालूम होते ही दुरुस्त कर लिया जाय।

सोच-समझकर किया गया यह विचारधारात्मक अवसरवाद लिबरेशन को अंततः ले डूबा। इसके सिवा कुछ हो भी नहीं सकता था। कम्युनिस्ट आंदोलन के इतिहास ने यह बार-बार दिखाया है कि विचारधारात्मक तौर पर की जा रही छोटी सी भी गलती को यदि दुरुस्त नहीं किया जाता तो वह अंततः पूर्ण विकसित गैर सर्वहारा विचारधारा में तब्दील हो जाती है। बल्कि अक्सर यह गलती शुरु होती ही है बहुत छोटे पैमाने पर, जो बाद में बढ़ती जाती है।

द्वितीय इंटरनेशनल के बर्नस्टीन, प्लेखानोव और काउत्स्की जैसी हस्तियों का इतिहास हम जानते हैं, जिसके सामने विनोद मिश्र एण्ड कम्पनी तो बच्चे भी नहीं ठहरते। ये हस्तियां जब एक बार थोड़ी सी फिसलन भरी राह पर चल पड़ी तो फिर उसका वापस लौटना असंभव साबित हुआ। इनमें भी काउत्स्की का मामला सबसे त्रासद था। द्वितीय इंटरनेशनल का यह सर्वमान्य नेता 1910 के बाद खुलेआम अवसरवादी भी नहीं हुआ। वह तो "मध्यमार्गी" था जो क्रांतिकारियों व अवसरवादियों के बीच एकता का पक्षधर था। लेकिन जब प्रथम विश्व युद्ध छिड़ गया तो उसे जर्मन सरकार के समर्थन में जाना पड़ा। यही नहीं जब रूस में बोल्शेविक क्रांति हो गई तो उसे बोल्शेविकों के खिलाफ पोजीशन लेनी पड़ी। चीजों का अपना तर्क होता है। इसी तर्क के कारण क्रांतिकारियों और अवसरवादियों के बीच खड़े काउत्स्की को अंततः बोल्शेविक क्रांति के खिलाफ होना पड़ा तथा इस तरह उन्हें इतिहास द्वारा कूड़े के ढेर में फेंक दिया गया। इतिहास ने अपनी निर्मम गति से दिखाया कि "बीच का कोई रास्ता नहीं होता।"

लिबरेशन तो मध्यमार्गी भी नहीं था। यह तो सीधे-सीधे अवसरवाद कर रहा था। यह विचारधारा के महत्वपूर्ण सवालों पर दृढ़तापूर्वक बड़ा होने से इंकार कर रहा था। यह डेंगपंथियों का समर्थन कर रहा था। तो इसकी अंतिम गति क्या इससे भिन्न हो सकती थी?

(2) अतीत से खुलेआम हिसाब न चुकता करना

लिबरेशन के विचारधारात्मक अवसरवाद का ही एक रूप यह था कि इसने अपने अतीत से कभी भी खुलेआम हिसाब चुकता नहीं किया। अतीत की जब भी कोई अवस्थिति या लाइन

इसे गलत लगने लगी तो इसने चुपचाप उसे छोड़ दिया और नयी अवस्थिति या लाइन अख्तियार कर ली। न तो पहली लाइन के लिए आत्मालोचना की और न ही उसके लिए दोषी व्यक्तियों की आलोचना। बल्कि कई बार तो ऐसा हुआ कि वह पुरानी और नई लाइन दोनों को एक ही साथ सही साबित करता रहा।

यह बात सबसे ज्यादा मूल भाकपा (माले)—उसके गठन और उसकी लाइन—तथा चारु मजुमदार के मूल्यांकन के संदर्भ में लागू होती है। एक ओर तो वह मूल भाकपा (माले) की सभी पुरानी अवस्थितियों को मानने की बात करता रहा (जरा याद करें उसकी कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों की एकता की शर्तें), दूसरी ओर वह उसकी ढेरों लाइनों को छोड़कर चुपचाप नयी लाइनें अपनाता रहा। मूल भाकपा (माले) की लाइनों के हिसाब से IPF टाइप के जन मोर्चा संगठन की संभावना भी क्या कोई सोच सकता था? यही बात चारु मजूमदार के मूल्यांकन के बारे में भी सच है। लिबरेशन हठ पूर्वक सारे मामलों में चारु मजूमदार को सही ठहराता रहा और उनकी साफ-साफ गलतियों को भी दूसरे लोगों के जिम्मे मढ़ता रहा।

तीसरी पार्टी कांग्रेस में लिबरेशन से जो "अतीत का मूल्यांकन" पेश किया, वह पूरा का पूरा इसी अवसरवाद का शिकार है। इसमें "सफाये" की लाइन को एक ओर तो सही ठहराने की जी तोड़ कोशिश की गई है और दूसरी ओर इसके "अभियान" के रूप में परिणत होने जाने के लिए असीम व महादेव को जिम्मेदार ठहराया गया है। चारु मजूमदार के पार्टी में एक मात्र "अथॉरिटी" बन जाने को भी इन्हीं व्यक्तियों के जिम्मे मढ़ दिया गया है। इसके बरक्स चारु मजूमदार की लाइन की चीनी पार्टी द्वारा आलोचना और उसके प्रति चारु के रुख के बारे में इसमें कुछ नहीं कहा गया है। बल्कि प्रकारान्तर से यह सिद्ध करने की कोशिश की गई है कि क्रांतिकारी उभार के समय चारु मजूमदार की सारी लाइनें ठीक थीं और उस उभार के बाद तो चारु मजूमदार खुद ही पीछे हटने की बात कर रहे थे। यानि चारु चारों ओर से सही थे। इसके बावजूद यदि आंदोलन और पार्टी बिखर गई तो इसके लिए दूसरे लोग जिम्मेदार थे। अपनी गलतियों और अपने अतीत के प्रति कम्युनिस्टों का यह रुख कतई नहीं होता। वे गलतियों को गलतियों के रूप में स्वीकार करते हैं और इसके लिए वे किसी आलोचना या आत्मालोचना से नहीं डरते। बल्कि वे यह मानते हैं कि गलतियों की साफ-साफ स्वीकारोक्ति ही उनको ठीक करने की पहली सीढ़ी होती है। इसके बदले पिछले दरवाजे से गलतियों को ठीक करने की कोई भी कोशिश क्रांतिकारी भावना का क्षरण करती है क्योंकि इसका सीधा सा मतलब होता है कि आप जानते हुए भी गलती को गलती को नहीं मान रहे हैं और उसे सदी ठहराने की जिद करते हुए भी उसकी विरोधी चीज कर रहे हैं।

चाहे मामला "सफाये" की लाइन का हो, जन दिशा का हो, चुनावों के इस्तेमाल का हो या पार्टी गठन की सही प्रक्रिया का, लिबरेशन नक्सलबाड़ी के समय मौजूद सभी धाराओं के वस्तुगत मूल्यांकन के आधार पर सही—गलत का फैसला करने को तैयार नहीं था। उसने बस भाकपा (माले) की 1970 की लाइन और चारु मजूमदार को चुन लिया तथा उन्हें किसी भी कीमत पर सही ठहराने लगा। नतीजा क्या हुआ? 1988 आते-आते उसने इन सभी को एकदम त्याग दिया और वह भी यह सवाल उठाये बिना कि पहले की उसकी अवस्थिति सही थी या गलत।

(3) गलत रणनीतिक व रणकौशलात्मक लाइन

वैसे तो विचाराधात्मक लाइन व रणनीतिक तथा रणकौशलात्मक लाइनें अलग-अलग होती हैं तथा सही विचारधारा पर खड़ा कोई संगठन अपनी रणनीति व रणकौशल की गलतियों को ठीक कर सकता है और सही लाइन अपना सकता है। लेकिन इन दोनों में द्वन्द्वात्मक संबंध भी होता है इसलिए ऐसा भी होता है। कि यदि कोई संगठन लम्बे समय तक गलत रणनीतिक व रणकौशलात्मक लाइन पर खड़ा रहे तो यह देर सबेर उसकी विचारधारात्मक लाइन को भी प्रभावित करता है तथा उसे अवसरवाद या संशोधनवाद की ओर ले जा सकता है।

लिबरेशन के मामले में भी यही हुआ। लिबरेशन न केवल गलत रणनीतिक लाइन पर खड़ा रहा (और आज भी खड़ा है) बल्कि उसने ढेरों रणकौशलात्मक लाइनों पर भी गलत अवस्थिति ली। इन गलतियों की जड़ें 1970 की मूल भाकपा (माले) की लाइन में थीं। जैसा कि हम देख चुके है, लिबरेशन एक लम्बे समय तक इनसे हठ पूर्वक चिपका रहा।

इनमें से सबसे गंभीर गलतियों में यह भी था कि कई सारे रणकौशलात्मक सवालों को रणनीति का सवाल बना दिया गया था; मसलन, संसदीय चुनावों में हिस्सेदारी का सवाल। रणनीतिक और रणकौशलात्मक सवालों का यह घालमेल बाद में काफी घातक बन गया।

ये गलत लाइनें जब व्यवहार से टकराने लगीं तो लिबरेशन ने उनका गंभीरतापूर्वक पुनर्विश्लेषण कर सही लाइन अपनाने के बदले उनमें घालमेल करना और चुपके से नई लाइन अपनाना शुरु कर दिया। यह उसके अवसरवाद की जनक बन गई। आप चारु मजूमदार की लाइन को गलत जानते हुए भी, उन्हें अपहोल्ड करने के नाम पर, सही ठहराते रहते हैं और व्यवहार में उसकी उल्टी बात करते हैं। यह केवल अवसरवाद को ही जन्म देगा, जिसकी अंतिम परिणति संशोधनवाद में होती है। लिबरेशन के साथ भी यही हुआ।

(4) तीसरी कांग्रेस का अति आशावाद

यदि चारु मजूमदार ने 1970 में घोषित कर दिया था कि "70 का दशक मुक्ति का दशक होगा" और यह कि "जब मैं यह सोचता हूं कि मुक्ति सेनाएं देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक मार्च करने लगेंगी तो मैं '75 से आगे की नहीं सोचता" तो लिबरेशन ने भी अपनी तीसरी कांग्रेस में इससे कम आशावादी बातें नहीं की थीं। उस कांग्रेस में बार-बार आने वाले "क्रांतिकारी ज्वार" की बातें की गईं तथा पार्टी कतारों से इसके लिए तैयार होने का आह्वान किया गया। कुछ उदाहरण देखिए :

> "क्रांतिकारी लहर का एक नया ज्वार बहुत दूर नहीं है। अतः हम क्रांतिकारी ज्वार के लिए तैयारी करने पर अपना ध्यान केन्द्रित किये बिना नहीं रह सकते। यहां तक कि अभी तुरंत एक आम क्रांतिकारी ज्वार न होने पर भी, आंशिक ज्वार तो हमेशा ही मौजूद है।"
>
> ('क्रांति के नये ज्वार के लिए तैयार हो जाओ!'
> विनोद मिश्र द्वारा दिया गया उद्घाटन भाषण, वही, पृष्ठ 2.9)

> "मुझे पूरा विश्वास है कि तमाम प्रतिनिधि कामरेड... कांग्रेस को एकता और विजय की कांग्रेस, दृढ़ संकल्प की कांग्रेस बना देंगे जो हमारी लाखों-लाख जनता को और हजारों-हजार कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को प्रेरणा देगी और पार्टी को भारतीय सर्वहारा का केन्द्र बना देगी।"
>
> (वही, पृष्ठ 14)

"लाखों-लाख भारतीय जनता को जागृत करने के लिए कांग्रेस का संदेश ले जायें और नये क्रांतिकारी ज्वार के लिए तैयार हो जायें। एक भी दिन, एक भी पल को हाथ से न जाने दें—विजय को अपनी मुट्ठियों में ले लें!"

("समापन भाषण", विनोद मिश्र, वही, पृष्ठ 7.1)

हा! लेकिन यह दिवास्वप्न साबित हुआ जो बाद में दुःस्वप्न में बदल गया। 1982 में देश में ऐसा कोई क्रांतिकारी ज्वार नहीं मौजूद था और न ही इसके निकट भविष्य में आने के संकेत थे। यदि संकेत कहीं थे तो वे लिबरेशन के नेतृत्व की आत्मगत सोच में थे। 1977 के बाद से 1982 तक उन्हें भोजपुर और आसपास के क्षेत्र में किसान संघर्षों को संगठित करने में कुछ सफलताएं मिली थीं। उनके संगठन का अपेक्षाकृत तेज गति से विस्तार हुआ था। यह लिबरेशन जैसे छोटे-से संगठन के लिए बहुत बड़ी उपलब्धि थी। इसी के साथ 1982 में IPF के उनके प्रयोग ने आशातीत प्रतिक्रिया हासिल की थी (उसका बाद का हश्र अभी भविष्य में छिपा था)। इन सबसे, लिबरेशन के नेतृत्व का संयम छूट गया। मूलतः बिहार के तीन-चार जिलों में सिमटा यह संगठन भारतीय क्रांति का केन्द्र बनने का ख्वाब देखने लगा। उसे क्रांति का नया ज्वार एकदम नजदीक दिखाई देने लगा। यही बातें, पूरी तीसरी कांग्रेस के अति आशावाद का आधार बन गईं।

लेकिन वस्तुगत स्थितियां तो ऐसी थी नहीं। क्रांति का नया ज्वार कहीं क्षितिज पर नहीं था। ऐसे में जब कुछ वर्षों तक "नया ज्वार" नहीं आया तो पार्टी की निचली कतारों से लेकर ऊपर तक निराशा का हावी होना स्वाभाविक था। यही नहीं, इस निराशोन्मता में जो भी हाथ लगे, कर डालने की भावना पैदा होना भी लाजिमी था। ऐसे में कोई आश्चर्य की बात नहीं कि केन्द्रीय कमेटी तक में पार्टी का विलोप कर देने की बात उठने लगी। अति आशावाद, अति निराशावाद को ही जन्म देता है।

निराशा से जन्मी इस विलोपी प्रवृत्ति को रोकने के लिए और पार्टी कतारों को बचाने के लिए लिबरेशन नेतृत्व के पास इसके अलावा कोई चारा नहीं था कि वह संशोधनवाद में लुढ़क जाय। पहले से चले आ रहे अवसरवाद ने इसमें उसकी बखूबी मदद की। इतने अवसरवाद और उपरोक्त आशावाद के बाद लिबरेशन नेतृत्व पार्टी कतारों का यह आहवान नहीं कर सकता था कि विचारधारा पर दृढ़तापूर्वक खड़ा होकर सालों-साल तक बिना किसी क्रांतिकारी ज्वार के भी काम के लिए वे तैयार हो जायं। चुपचाप दूर भविष्य की क्रांति की तैयारी करें। ऐसे में वही हो सकता था, जो हुआ। लिबरेशन "सफाये" की लाइन को छोड़कर संसद और विधानसभाओं में जाकर बैठ गया। "अति क्रांतिकारी" लिबरेशन, संशोधनवादी हो गया।

लिबरेशन के पतन का वर्गीय आधार

लिबरेशन के एक संशोधनवादी संगठन में पतन के उपरोक्त वैचारिक कारणों के वर्णन के बाद हम इन विचारों के वर्गीय आधार पर आते हैं।

जैसा कि कम्युनिस्टों के बीच स्थापित बात है, संशोधनवाद छद्म रूप में बुर्जुआ विचारधारा है। संशोधनवादी सर्वहारा आंदोलन में बुर्जुआ एजेन्ट हैं।

लेकिन ये बुर्जुआ एजेन्ट अलग-अलग सामाजिक पृष्ठभूमि से आये हो सकते हैं। ये अभिजात मजदूरों व ट्रेड-यूनियन नौकरशाही के बीच से आये हो सकते हैं, ये शहरी पेटी-बुर्जुआ के बीच

से आये हो सकते हैं या फिर ये देहाती पेटी-बुर्जुआ के बीच से आये हो सकते हैं।

लेनिन ने यूरोप के (जर्मनी, फ्रांस व इंग्लैण्ड) के संशोधनवादियों/ अवसरवादियों के सामाजिक आधार का जिक्र करते हुए बार-बार उन्हें अभिजात मजदूरों व ट्रेड यूनियन नौकरशाही का उत्पाद माना। इसके मुकाबले उन्होंने रूसी अवसरवादियों का सामाजिक आधार वहां के छोटे पैमाने के उत्पादन के व्यापक प्रचलन को माना। छोटे पैमाने का यह उत्पादन एक ओर तो अथवाद और दूसरी ओर आतंकवाद या अराजकतावादी-संघातिपत्यवाद को जन्म देता है।

भारत में सर्वहारा विचारधारा से विचलन के सामाजिक आधार इसी छोटे पैमाने के उत्पादन की व्यापक उपस्थिति में हैं। लेकिन इसमें शहरी के मुकाबले देहाती तत्व प्रधान हैं।

इसका सबसे बड़ा कारण तो यही है कि देश के लगभग सभी क्रांतिकारी संगठनों का आधार कमोबेश देहातों में ही है। चीनी क्रांति से प्रेरणा लेकर, नक्सलबाड़ी के बाद लगभग सारे क्रांतिकारियों ने देहात को क्रांति का केन्द्र मान लिया और वहीं पिल पड़े। शहरों में काम (औद्योगिक मजदूर वर्ग) को उन्होंने द्वितीय तो क्या तृतीय श्रेणी तक पहुंचा दिया। नक्सलबाड़ी आंदोलन के बिखर जाने के बाद भी वही प्रवृत्ति जारी रही और वह आज भी हावी है। नयी जनवादी क्रांति के नाम पर देहातों को क्रांति का केन्द्र मानना आज भी जारी है।

ऐसे में आपातकाल के बाद पुनर्गठित हुए लगभग सभी संगठनों का आधार देहात ही बना। शहरी पेटी बुर्जुआ पृष्ठभूमि से आये कामरेड भी गांवों में क्रांति को संगठित करने में लग गये। इस काम के फलस्वरूप इन संगठनों की जो सामाजिक संरचना बनी, वह देहाती पेटी बुर्जुआ प्रधान थी। वैसे भी ये संगठन चारों ओर से देहातों में पेटी बुर्जुआ वातावरण के समुद्र में काम कर रहे थे।

इस वातावरण का और इस सामाजिक आधार व संरचना का क्रांतिकारी संगठनों पर प्रभाव पड़ना लाजिमी था। इनकी विचारधारा का पार्टी में अभिव्यक्त होना भी स्वाभाविक था। ऐसे में जिस चीज की जरूरत थी, वह थी सर्वहारा विचारधारा पर दृढ़तापूर्वक खड़ा होकर इन पराये विचारों के खिलाफ संघर्ष। जिन संगठनों ने यह काम किया, वे अपनी क्रांतिकारी विचारधारा की हिफाजत करने में और क्रांतिकारी लाइन पर खड़े रहने में समर्थ रहे। जिन्होंने ऐसा नहीं किया, वे अंततः अवसरवाद और संशोधनवाद के दलदल में डूब गये।

लिबरेशन इन डूबने वाले संगठनों में से एक था। इस पर देहाती पेटी बुर्जुआ वर्ग या ज्यादा ठीक-ठीक कहें तो छोटे व मध्यम फार्मर की विचारधारा हावी हो गई और वह क्रमशः सर्वहारा विचारधारा को तिलांजलि देने तक जा पहुंचा। यह यात्रा उतनी छोटी नहीं थी, जितनी ऊपर से दिखती है। इसकी शुरूआत काफी पहले हो चुकी थी, जिसका एक पड़ाव थी तीसरी कांग्रेस और मंजिल थी चौथी कांग्रेस।

अतः वर्गीय आधार की बात की जाय तो लिबरेशन के संशोधनवाद का आधार है, देहाती पेटी बुर्जुआ वर्ग। आज यह इसी वर्ग का नुमाइंदा संगठन बन चुका है और इसी रूप में यह भारतीय बुर्जुआ वर्ग की सेवा कर रहा है।

विचारधारा और विचारधारात्मक संघर्ष के महत्व के बारे में

क्रांतिकारी सिद्धांत के बिना क्रांतिकारी आंदोलन असंभव है। ऐसे समय में, जब अवसरवाद के फैशनेबुल प्रचार और व्यावहारिक काम के अत्यंत संकुचित रूपों के प्रति मोह का चोली-दामन का साथ है, इस विचार पर जितना भी जोर दिया जाये, थोड़ा है।

लेनिन, **क्या करें ?**

... खास तौर से नेताओं पर इसकी जिम्मेदारी है कि वे सभी सैद्धांतिक सवालों की दिन-प्रति-दिन अधिक स्पष्ट समझ प्राप्त करें, पुराने विश्व दृष्टिकोण से विरासत में मिली परंपरागत शब्दावलियों के प्रभाव से अपने को अधिकाधिक मुक्त करें और इस बात को सदा याद रखें कि समाजवाद चूंकि अब एक विज्ञान बन गया है, इसलिए जरूरी है कि एक विज्ञान के रूप में उसका उपयोग किया जाय, यानि अध्ययन किया जाय। हमारा काम यह होगा कि इस प्रकार जो आधिकाधिक स्पष्ट समझ हमें प्राप्त हो, हम उसे और भी ज्यादा जोश से आम मजदूरों के बीच फैलाएं और पार्टी तथा ट्रेड-यूनियन दोनों के संगठनों को अधिकाधिक मजबूत बनाते और जमाते चलें...

एंगेल्स, **जर्मनी में किसान युद्ध** की भूमिका

मार्क्सवाद सर्वहारा के मुक्ति आंदोलन का सिद्धांत है। अतएव यह स्पष्ट है कि वर्ग-सचेत मजदूरों को मार्क्सवाद के स्थान पर स्त्रूवेवाद के प्रतिस्थापन की प्रक्रिया पर कड़ी नजर रखनी चाहिए। इस प्रक्रिया की प्रेरक शक्तियां विविधतापूर्ण तथा बहुविध हैं। हम केवल तीन मुख्य शक्तियों की ओर संकेत करेंगे : (1) विज्ञान का विकास अधिकाधिक ऐसी सामग्री मुहैया कर रहा है, जो मार्क्स को सही सिद्ध करती हैं। यह उनके खिलाफ पाखंडपूर्ण ढंग से संघर्ष करना आवश्यक बना देता है—मार्क्सवाद के सिद्धान्तों का खुले रूप से विरोध न किया जाय, अपितु मार्क्सवाद को स्वीकार करने का स्वांग रचा जाय तथा उसकी अंतर्वस्तु को कुतर्कों से शक्तिहीन बनाते हुए उसे बुर्जुआ वर्ग के लिए हानिरहित, पवित्र "देवप्रतिमा" में परिणत कर दिया जाय; (2) सामाजिक जनवादी पार्टियों में अवसरवाद का विकास मार्क्सवाद में इस तरह की "कांट-छांट" करने का आधार प्रदान करता है, उसे अवसरवाद को सब तरह की रियायतें देने के औचित्य के अनुकूल ढालता है; (3) साम्राज्यवाद का युग ऐसा युग है जिसमें संसार दूसरे राष्ट्रों का उत्पीड़न करने वाले "महान" विशेषाधिकार प्राप्त राष्ट्रों के बीच विभक्त है। इन विशेषाधिकारों तथा इस उत्पीड़न से

हासिल लूट के माल से कुछ जूठन निस्संदेह टुटपूंजियां तथा अभिजात वर्ग के कुछ तबकों तथा मजदूर नौकरशाही के हिस्से तक को पहुंच जाती है। ये तबके, जो सर्वहारा तथा मेहनतकश जनसाधारण की एक नगण्य अल्पसंख्या होते हैं, "स्त्रूवेवाद" की ओर खिंचते चले जाते हैं, क्योंकि वह **समस्त** राष्ट्रों के उत्पीड़ित जनसाधारण के विरुद्ध "अपने" राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग के साथ उनकी संघबद्धता का औचित्य सिद्ध करने के काम आता है।

लेनिन, **दूसरे इंटरनेशनल का पतन**

पूंजीवादी देशों के कम्युनिस्टों को चाहिए कि वे फौरी संघर्षों का सक्रियता से नेतृत्व करने के साथ-साथ उन्हें दीर्घकालीन और आम दिनों के संघर्ष के साथ जोड़ दें, जनता को मार्क्सवाद-लेनिनवाद की क्रांतिकारी भावना से शिक्षित करें, उसकी राजनीतिक चेतना को लगातार ऊंचा उठाते जाएं तथा सर्वहारा क्रांति का ऐतिहासिक काम पूरा करें। अगर वे ऐसा करने में असफल रहेंगे, अगर वे फौरी आंदोलन को ही सब कुछ समझ बैठेंगे, अलग-अलग लोगों के सामने अलग-अलग किस्म का आचरण करेंगे, मौजूदा घटनाओं के अनुसार अपने को ढाल लेंगे और सर्वहारा वर्ग के बुनियादी हितों को कुरबान कर देंगे, तो वे निरे सामाजिक-जनवादी बन जाएंगे।

सामाजिक-जनवाद पूंजीवादी विचारधारा का ही एक रुझान है। लेनिन ने बहुत पहले ही यह बता दिया था कि सामाजिक-जनवादी पार्टियां पूंजीपति वर्ग का राजनीतिक दस्ता हैं, मजदूर आंदोलन में उनके एजेन्ट हैं तथा उसका मुख्य सामाजिक अवलम्ब हैं। कम्युनिस्टों को चाहिए कि वे हमेशा सर्वहारा क्रांति और सर्वहारा अधिनायकत्व के बुनियादी सवाल के बारे में अपने और सामाजिक जनवादियों के बीच स्पष्ट विभाजन-रेखा खींचें तथा अंतर्राष्ट्रीय मजदूर आंदोलन और विभिन्न देशों के मजदूरों पर सामाजिक-जनवादियों के विचारधारात्मक असर को मिटा दें।

महान बहस, आम दिशा

एक तरफ तो सभी कालों में यह आवश्यक है कि मार्क्सवाद-लेनिनवाद की आम सच्चाई पर अडिग रहा जाय। अगर ऐसा नहीं किया गया, तो दक्षिणपंथी अवसरवादी या संशोधनवादी गलतियां होंगी।

दूसरी तरह यह आवश्यक है कि हमेशा वास्तविकता से प्रारंभ किया जाय, जनता के साथ घनिष्ठ संपर्क कायम रखा जाय, जन संघर्षों के अनुभवों का लगातार निचोड़ निकाला जाय तथा अपने देश के अनुकूल नीतियों और कार्यनीतियों को स्वतंत्र रूप से बनाया जाय और उन्हें लागू किया जाय। अगर कोई ऐसा करने में असमर्थ रहा, अगर उसने अन्य कम्युनिस्ट पार्टी की नीतियों और कार्यनीतियों का यांत्रिक रूप से अनुसरण किया, दूसरों की इच्छा को अंधे होकर मान लिया, अथवा अन्य कम्युनिस्ट पार्टी के प्रोग्राम और प्रस्तावों को बिना विश्लेषण किए ही अपनी दिशा के रूप में स्वीकार कर लिया, तो वह कठमुल्लावादी गलतियां करेगा।

महान बहस, आम दिशा

एकता एक महान चीज है और एक महान नारा है। लेकिन मजदूरों के कार्य को जिसकी जरूरत है वह है, **मार्क्सवादियों की एकता**, न कि मार्क्सवादियों और मार्क्सवाद के विरोधियों व उसे विकृत करने वालों के बीच की एकता।

लेनिन, **एकता**

अवसरवाद के साथ निश्चयात्मक विच्छेद किए बिना और जनता को इसके दिवालिएपन की अनिवार्यता को बतलाए बिना वर्तमान समय में समाजवाद के कार्यभारों को पूरा कर पाना असंभव है, मजदूरों की वास्तविक अंतर्राष्ट्रीय एकता कर पाना असंभव है।

लेनिन, **युद्ध और रूसी सामाजिक-जनवाद**

अवसरवाद और संशोधनवाद फूटपरस्ती की राजनीतिक और विचारधारात्मक जड़ें हैं। और फूटपरस्ती अवसरवाद और संशोधनवाद की संगठनात्मक अभिव्यक्ति है। यह भी कहा जा सकता है कि अवसरवाद और संशोधनवाद फूटपरस्ती के साथ-साथ संकीर्णतावाद भी है। संशोधनवादी कम्युनिस्ट आंदोलन में सबसे बड़े और सबसे घृणित फूटपरस्त और संकीर्णतावादी हैं।

अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन का इतिहास यह दर्शाता है कि सर्वहारा एकता का सुदृढ़ीकरण और उसका विकास अवसरवाद, संशोधनवाद और फूटपरस्ती के विरुद्ध संघर्ष में ही हुआ है। एकता के लिए संघर्ष उसूलों के लिए संघर्ष से अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है।

सर्वहारा को जिस एकता की आवश्यकता होती है, वह है—वर्ग की एकता और, क्रांतिकारी एकता और; सामान्य शत्रु के विरुद्ध तथा साम्यवाद के महान लक्ष्य के लिए एकता। अंतर्राष्ट्रीय सर्वहारा की एकता का सैद्धांतिक और राजनैतिक आधार मार्क्सवाद-लेनिनवाद में है। सैद्धांतिक और राजनैतिक एकता होने पर ही अंतर्राष्ट्रीय सर्वहारा में सांगठनिक सम्बद्धता और कर्म की एकता संभव है।

सर्वहारा की सच्ची क्रांतिकारी एकता उसूल पर कायम रहने और मार्क्सवाद- लेनिनवाद पर कायम रहने पर ही संभव है। उसूलों को त्यागने और अवसरवादियों के साथ कीचड़ में लोटने के द्वारा खरीदी गई एकता सर्वहारा एकता नहीं रह जाती; इसकी जगह, जैसा कि लेनिन ने कहा, इसका "व्यवहार में अर्थ होता है, सर्वहारा की राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के साथ एकता और अंतर्राष्ट्रीय सर्वहारा के बीच **फूट**, पिछलग्गुओं की एकता और क्रांतिकारियों के बीच फूट।"

उन्होंने यह भी बताया कि "जैसे पूंजीपति वर्ग तब तक नहीं मरेगा जब तक कि उसकी सत्ता न पलट दी जाय", वैसे ही अवसरवादी धारा, जिसे पूंजीपति वर्ग का घूस और समर्थन प्राप्त है, "तब तक नहीं मरेगा जब तक कि उसे 'मार न दिया जाय, यानि जब तक उसका तख्ता न पलट दिया जाय, उसे समाजवादी सर्वहारा के बीच हर प्रभाव से वंचित न कर दिया जाय।" अतः यह आवश्यक है कि "अवसरवाद की धारा के विरुद्ध निर्मम संघर्ष चलाया जाय।"

महान बहस, सातवीं टिप्पणी, "सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी के नेता हमारे समय के सबसे बड़े फूटपरस्त हैं"